हमारी न्यायपालिका

भारत—देश और लोग

हमारी न्यायपालिका

बालमुकुंद अग्रवाल

अनुवाद

भवानी दत्त पंड्या

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-1680-X

पहला संस्करण 1996

दूसरी आवृत्ति 1999 (शक 1921)

Our Judiciary (*Hindi*)

रू. 45.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली - 110 016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

S. C. Agrawal JUDGE, SUPREME COURT OF INDIA

प्राक्कथन

विधायिका तथा कार्यपालिका के साथ, न्यायपालिका राज्य के तीन आधारभूत अंगों में से एक है। राज्य के कार्यसंचालन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह बात विधि के शासन पर आधारित लोकतंत्र पर और भी अधिक लागू होती है। अत्यंत प्राचीन काल से, विधि और न्यायपालिका ने भारत की राज्य-व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों में इसके महत्व को स्वीकार किया गया है। हमारे संविधान में विधायी तथा प्रशासनिक कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा करने की शक्ति न्यायपालिका को प्रदान की गई है। संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन का कार्य न्यायपालिका को सौंप कर न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

संविधान द्वारा परिकल्पित सामाजिक कल्याणकारी राज्य में, राज्य को जनता के कल्याण के लिए अनेक दायित्वों का निर्वाह करना होता है। राज्य की भूमिका के इस विस्तार के कारण विविध क्षेत्रों में विधान बनाने की आवश्यकता पड़ी है जिससे न्यायपालिका की भूमिका में भी तदनुरूप वृद्धि हो गई है। आज न्यायपालिका केवल नागरिकों के आपसी विवाद ही नहीं अपितु नागरिक और राज्य के बीच के विवादों का भी निपटारा करती है। जिन विवादों का निर्णय करना अपेक्षित है, उनके बदलते स्वरूप के कारण ही विशेष न्यायालयों और अधिकरणों की स्थापना करनी पड़ी है। आज पारिवारिक विवाद, कराधान, दुर्घटनाजन्य दावे, श्रम विवाद, सरकारी कर्मचारी, उपभोक्ता संरक्षण एकाधिकार और अवरोधक व्यवहार आदि से संबंधित प्रश्नों के लिए देश में कई ऐसे विशेष न्यायालय एवं अधिकरण कार्यरत हैं।

लोगों में अपने अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण मुकदमों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई है और उसके फलस्वरूप न्यायालयों द्वारा न्याय प्रदान करने में विलंब होता है। इसने विवादों के त्वरित अधिनिर्णयन के लिए वैकल्पिक साधन ढूंढ़ने की आवश्यकता को जन्म दिया है। ऐसा ही एक साधन लोक अदालतों का है जिसमें विवादी पक्ष न्यायालयों में लंबित मामलों को परस्पर सहमति से सुलझा सकते हैं। यह साधन काफी सफल सिद्ध हुआ है।

यह पाया गया कि बहुत बार, निर्धनता, निरक्षरता अथवा सामाजिक एवं आर्थिक विपन्नता के कारण अनेक लोग विधिक अनुतोष के लिए न्यायालयों तक नहीं पहुंच पाते

थे। ऐसे लोगों को राहत प्रदान करने के विचार से न्यायालयों ने प्रक्रिया के सामान्य नियमों को शिथिल करके स्वैच्छिक संगठनों या सामाजिक कार्रवाई समूहों या व्यक्तिगत सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी इन लोगों की ओर से न्यायालय में गुहार करने और उन्हें राहत दिलाने की अनुमति प्रदान की है। वाद की यह शाखा, जिसे लोकहित वाद कहा जाता है, समाज के दुर्बल, असंगठित एवं शोषित वर्गों को न्याय दिलाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है।

'हमारी न्यायपालिका' नामक इस पुस्तक में लेखक श्री बालमुकुंद अग्रवाल ने प्राचीन भारत, मुगल काल और अंग्रेजी राज में न्यायपालिका के संगठन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने के बाद, देश की वर्तमान न्यायिक प्रणाली के कार्यकरण पर प्रकाश डाला है। पुस्तक में सिविल और दांडिक न्यायालयों और साथ ही, उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय एवं न्यायिक और न्यायिक-कल्प कार्य करने वाले विविध अधिकरणों तथा आयोगों के सोपानक्रम और प्रक्रिया का विशद वर्णन है। लेखक ने माध्यस्थम्, लोक न्यायालय, पंचायत आदि विवाद अधिनियम के अन्य मंचों और हमारे देश में लोकहित वाद की सक्रिय भूमिका पर भी प्रकाश डाला है। पुस्तक में जिन विषयों की चर्चा है, उन्हें सामान्य पाठक को सरल भाषा में समझाने के लिए लेखक ने इस क्षेत्र में अपनी विद्वता एवं अनुभव का भली प्रकार उपयोग किया है।

यह पुस्तक हमारी जानकारी बढ़ाती है और साथ ही हमें शिक्षित भी करती है। यह पाठक को हमारे देश की न्यायिक प्रणाली के कार्यकरण के विषय में यथातथ्य जानकारी देने की दिशा में बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। इसका प्रकाशन करके नेशनल बुक ट्रस्ट ने सराहनीय कार्य किया है। दुर्भाग्यवश श्री बालमुकुंद अग्रवाल के दुःखद एवं असामयिक निधन के कारण यह पुस्तक मरणोपरांत प्रकाशित हो रही है। इसका प्रकाशन विद्वान लेखक की स्मृति के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगा।

अगस्त 1992

एस.सी. अग्रवाल

प्रस्तावना

न्यायालय और उनकी प्रक्रिया जन-साधारण के लिए आकर्षण का विषय होते हैं। समाज की बढ़ती जटिलता के कारण, हममें से अधिकांश लोगों को अपने जीवन में कभी-न-कभी न्यायालयों की शरण में जाना ही पड़ता है। आज न्याय-प्रशासन पारंपरिक सिविल और दांडिक न्यायालयों तक ही सीमित नहीं है। गत-पचासेक वर्षों के दौरान काफी बड़ी संख्या में अधिकरण, आयोग आदि अस्तित्व में आ गए हैं जो विभिन्न प्रकार के विवादों में न्याय प्रदान करते हैं और उस तरह की राहत देते हैं जो पारंपरिक न्यायालयों में उपलब्ध नहीं होती। एकाधिकार आयोग, उपभोक्ता न्यायालय आदि इसी तरह के न्यायालय हैं। न्याय के मंदिर तक पहुंचने के लिए अब वकीलों के माध्यम का प्रयोग अनिवार्य नहीं रह गया है, यद्यपि आज भी उनकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है। किंतु बहुत से लोग नहीं जानते कि ऐसे 'वैकल्पिक' न्यायालय और अधिकरण विद्यमान हैं और इसलिए उनका लाभ नहीं उठा पाते।

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सरल भाषा में आम लोगों को हमारी वर्तमान न्यायिक प्रणाली और उसके इतिहास से अवगत कराना और उन्हें सिविल, दांडिक तथा अन्य न्यायालयों एवं अधिकरणों का परिचय देना है। मैंने यहां भारतीय न्यायपालिका का एक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—उसका विकास, उसका वर्तमान स्वरूप और उसके विविध कार्य। इस पुस्तक में सिविल या दांडिक विधि अथवा प्रक्रिया के विकास पर प्रकाश नहीं डाला गया है बल्कि, प्राचीन से अर्वाचीन काल तक, भारत की न्यायपालिका के विकास पर दृष्टि डाली गई है। मैंने विभिन्न न्यायालयों और अधिकरणों की अधिकारिता, उनमें उपलब्ध उपचार, उनके अनुक्रम तथा अपीली प्रणाली को समझाने का प्रयत्न किया है।

इन दिनों विभिन्न न्यायालयों के कामकाज, वहां होने वाले असाधारण विलंब, मुकदमे के भारी खर्च, न्यायाधीशों, वकीलों और न्यायालय के अधिकारियों, कर्मचारियों की ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा और साथ ही, न्यायिक प्रक्रिया में राजनीतिक हस्तक्षेप को लेकर बड़ी आलोचना की जाती है। मैंने इस सामूहिक स्वर में अपना स्वर मिलाने से स्वयं को रोका है—बस, पुस्तक के अंतिम अध्याय में इस तरह की शिकायतों का निरूपण कर दिया है।

सभ्य समाज का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उसके निवासी अपने विवाद किस प्रकार शांतिपूर्ण ढंग से निपटाते हैं। जहां शांति है, वहीं प्रगति है। यदि लोगों को न्याय मिलेगा तो वे संतुष्ट रहेंगे। यदि उन्हें न्याय नहीं मिलेगा तो वे विद्रोह करेंगे। न्यायालय और अधिकरण ऐसे स्थान हैं जिनमें व्यक्ति को सबल-दुर्बल और धनी-निर्धन के भेदभाव के बिना न्याय मिलना चाहिए। जैसा कि मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र ने कहा, "मैं नहीं मानता कि हमारी न्यायिक प्रणाली पुरानी पड़ चुकी या ध्वस्त हो गई है अथवा ध्वस्त हो रही है। मेरा विचार है कि हमें विरासत में समय की कसौटी पर खरी उतरी हुई एक न्यायिक प्रणाली मिली है और हमने इसे सबको उपलब्ध कराने के लिए इसका और विकास किया है। हां, मैं यह कहूंगा कि इसे 'सुर' में लाने की जरूरत है।"

महान अमरीकी न्यायाधीश न्यायमूर्ति स्टोरी की अंत्येष्टि के समय बोलते हुए डी. वेब्सटर ने अविस्मरणीय शब्द कहे थे :

> श्रीमान, इस धरती पर न्याय के प्रति मनुष्य की बड़ी रुचि है। यह वह तंतु है जो सभ्य जीवों और सभ्य राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधता है। जहां भी न्याय का मंदिर है वहां जब तक उसका विधिवत आदर किया जाता है, तब तक सामाजिक सुरक्षा, सामान्य सुख और हमारी जाति की उन्नति तथा प्रगति की नींव विद्यमान है। जो व्यक्ति इस भवन पर उपयोगी ढंग से और विशेष योग्यता के साथ श्रम करता है, इसकी नींव रखता है, स्तंभों को सुदृढ़ करता है, उनके ऊपर के शिल्प को अलंकृत करता है या इसके भव्य कलश को आकाश में और भी ऊंचा उठाता है, वह अपने नाम, प्रसिद्धि और चरित्र को उससे जोड़ता है जो उतनी ही स्थायी है और होनी चाहिए जितनी कि मानव समाज की स्वतंत्रता।

यह पुस्तक सामान्यजन के लिए है। मैंने इसमें समाविष्ट जानकारी को सरल और बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है पर साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाए रखा है। मैं चार दशक से भी अधिक समय से न्यायालयों के कामकाज से संबद्ध रहा हूं और इनमें से अधिकांश न्यायालयों को निकट से जाना है। पुस्तक में कुछ शास्त्रीय बातें तो अपरिहार्य थीं। पाठकों को पुस्तक में जो भी कमियां लगें, उनके लिए मैं पूर्णतया उत्तरदायी हूं। मैंने इस पुस्तक को ज्ञानवर्द्धक और पठनीय बनाने का भरसक प्रयास किया है और मैं यह आशा करता हूं कि पाठकों को यह उपयोगी प्रतीत होगी।

अगस्त 1992 **बालमुकुंद अग्रवाल**

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1

प्राचीन भारत

न्यायपालिका का संगठन

सामाजिक विज्ञान और विधिक इतिहास के विद्वानों का मत है कि आरंभिक समाजों में, विवादों के निपटारे की किसी संगठित प्रणाली का संकेत नहीं मिलता। न्याय की प्राप्ति एक निजी मामला होता था जिसका निर्णय युद्ध या शक्ति से होता था। आगे चलकर कुछ मामलों में न्याय समुदाय की सहायता से प्राप्त किया जाने लगा। जब समाज अस्तित्व में आया तभी से आचरण के कुछ नियम भी निर्धारित हुए। समाज के नियमों का अनादर करने का अर्थ था समाज का अनादर करना। विधि का भंग करने वालों के साथ कठोरता से निपटा जाता था और दंड सामूहिक तौर पर दिया जाता था।

न्याय प्रदान करने के मुख्य उद्देश्य दो हैं : सत्य का शोध और लोगों से विधिक नियमों का पालन कराना। विनोग्रेडोफ के अनुसार, प्राचीन काल में, सत्य की खोज की अपेक्षा समस्याओं के समाधान पर अधिक बल दिया जाता था। न्याय प्रदान करने का काम राजा का होता था और मनु तथा नारद ने राजा की स्थिति की तुलना एक शल्य-चिकित्सक से की है। महाभारत का कथन है कि राजा को, जिसका काम न्याय करना भी है, सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए और यह आवश्यक है कि वह बुद्धिमान तथा सुसंस्कृत हो।

नारदीय धर्मशास्त्र का कथन है :

> न्यायिक प्रक्रिया की स्थापना मानव जाति के संरक्षण के लिए की गई है। यह विधि और व्यवस्था का रक्षोपाय है जो राजा को उसके राज्य में होने वाले अपराधों के उत्तरदायित्व से मुक्त करता है। जब मानवजाति पूरी तरह सदाचारी और सत्यनिष्ठ थी तब झगड़े, घृणा और स्वार्थपरता का अभाव था।
>
> जब सदाचार का लोप हो गया तब न्यायिक प्रक्रिया की स्थापना की गई। राजा को दंड देने का विशेषाधिकार है अतः उसे वादों के निपटारे के लिए न्यायाधीश बनाया गया है।

अधिकांश भारत में, दंड के भय के कारण लोगों से दूसरों के अधिकारों का आदर कराया जाता था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह विधि का भंग करने वालों को दंड दे और ऐसी परिस्थितियां सुनिश्चित करे जिनमें समाज का कामकाज सुचारू रूप से चलता रहे। प्रत्येक व्यक्ति को न्याय पाने का अधिकार था और उसे न्याय प्रदान करने का कार्य राज्य का था। राजा शक्तिशाली था और राज्य का प्रतीक भी था किंतु उसे विधि निर्माण का अधिकार नहीं था। वह विधि की रक्षा करता था, विधि की घोषणा करता था और न्याय का प्रशासन करता था। वह राज्य के उच्चतम न्यायालय की अध्यक्षता करता था किंतु उसे धर्मशास्त्रों में विहित कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। वैदिक युग में ऋजु की संकल्पना का विकास हुआ। अर्थात यह धारणा कि प्रकृति नियमबद्ध है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की नींव पड़ी जिसकी परिणति मानव संबंधों के विनियमन के लिए विधि के विकास में हुई। लोगों को यह अनुभव हुआ कि समाज के प्रत्येक सदस्य को देश की विधि के अनुसार न्याय मिलना चाहिए और उसके अधिकारों की रक्षा होनी चाहिए। इसी उद्देश्य ने न्यायपालिका की प्रणाली को जन्म दिया। जनता को न्याय केवल राज्य के माध्यम से ही मिल सकता था अतः न्यायदान प्राचीन भारतीय राजा का सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य बन गया। राज्य तथा न्यायिक प्रणाली की अवधारणाओं का परस्पर गहरा संबंध है : राज्य ही विधि का पालन कराता था और वही लोगों को निष्पक्ष न्याय भी प्रदान करता था।

कालांतर में, वैदिक काल की एकल न्याय प्रणाली के स्थान पर धीरे धीरे एक व्यापक और परिष्कृत न्याय-व्यवस्था का विकास हुआ जिसका श्रेय स्मृतिकारों और टीकाकारों को है। इसके विकास के विभिन्न चरण थे—वैदिक अर्थात पूर्व-मौर्य काल, मौर्य काल तथा गुप्त काल। मौर्य काल के पूर्व विधि की सही स्थिति को वैदिक युग तथा धर्मसूत्र के युग के रूप में जाना जा सकता है।

वैदिक काल में, सभा और समिति न्यायिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। उनसे राजा की न्यायिक शक्तियों में भी अभिवृद्धि हुई। ऋग्वेद में राजा के कर्तव्यों का जो उल्लेख मिलता है उससे ज्ञात होता है कि राजा जनता से प्राप्त करों के बदले में न्यायाधीश के कर्तव्यों का निर्वाह करता था। इस प्रकार, अपराधियों को दंड देकर व्यवस्था स्थापित करना राजा के सबसे उपयोगी एवं महत्वपूर्ण कर्तव्यों में से एक था। जीवन सीधा-सादा था इसलिए विधि व्यवस्था अच्छी प्रकार से बनाए रखी जाती थी और न्यायालयों की आवश्यकता नहीं होती थी। राजा स्वयं ही सिविल और दांडिक अधिकारिता से संपन्न न्यायालय था इसलिए वैदिक साहित्य में न्यायालय नाम से किसी पृथक संस्था का उल्लेख नहीं मिलता। न्याय प्रदान करना राजा का उत्तरदायित्व था।

प्राचीन भारत में न्याय स्मृतियों के अनुसार दिया जाता था और यह राजा के

सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं आज्ञापक कार्यों में से एक था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह न्याय की उपयुक्त और निष्पक्ष व्यवस्था करके लोगों की रक्षा करे। यह विश्वास था कि इस महत्वपूर्ण कार्य के प्रति उदासीन होने से राजा और प्रजा, दोनों को ही विपत्ति का सामना करना पड़ेगा।

प्राचीन भारतीय विधिवेत्ताओं ने न्याय के प्रशासन को नियमित करने के लिए विधि का विकास करने की ओर बहुत ध्यान दिया। इस विषय से संबंधित रचनाओं में सुझाव दिया गया है कि उच्चतम न्यायालय राजधानी में अवस्थित होना चाहिए। राजा के प्राधिकार से निचले न्यायालय स्थापित किए जाते थे। जनता के अपने न्यायालय भी थे जिन्हें ग्राम स्तर के विवादों का निर्णय करने की शक्ति थी। न्यायाधीशों और न्यायालय के अन्य अधिकारियों की अर्हताएं विहित थीं। इस बात की भी व्यवस्था थी कि जहां आवश्यक हो वहां तकनीकी प्रश्नों पर न्यायालय की सहायता करने के लिए असेसरों के रूप में विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाए। प्रक्रिया तथा साक्ष्य की विधियां बनाई गई थीं। बृहस्पति, नारद, मनु, कौटिल्य आदि नीतिकारों ने न्यायाधीशों तथा न्याय के प्रशासन से जुड़े अन्य व्यक्तियों की एक आचार संहिता बनाई थी जिसमें न्याय प्रशासन के अनुक्रम में अपराध करने वाले अधिकारियों को दंडित करने से संबंधित उपबंध भी थे।

विधि आयोग ने अपनी चौदहवीं रिपोर्ट में बताया है कि यद्यपि प्राचीन लेखकों ने बहुत प्राचीन काल में विद्यमान न्यायालयों के सोपानक्रम का वर्णन किया है किंतु उसकी यथार्थ संरचना के बारे में निश्चित रूप से बताना संभव नहीं है। नारद, बृहस्पति आदि लेखकों द्वारा रचित परवर्ती ग्रंथों से ऐसा आभास मिलता है कि उस काल में नियमित न्यायालय बड़ी संख्या में विद्यमान रहे होंगे। प्रक्रिया के नियमों और साक्ष्य की जटिल प्रणाली के विकास से यह संकेत मिलता है। जनता के अधिकरण, विशेषकर ग्राम-न्यायालय, लंबे समय तक अस्तित्व में रहे और ये भारत में ब्रिटिश राज के प्रारंभ तक विद्यमान थे। वे अपनी प्राचीनता के बल पर ही बने रहे क्योंकि ऐसे कोई प्रभावी अधिकरण नहीं थे जो लोगों की पहुंच के भीतर हों। इस प्रकार के अधिकरणों के मुख्य कार्य सुलह-सफाई कराने के थे और स्थानीय शासक उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते थे।

प्राचीन भारत में न्यायालयों के भिन्न भिन्न प्रकार

एक उच्चतम न्यायालय होता था जिसकी अध्यक्षता राजा करता था। कुछ अन्य न्यायालय भी होते थे जिनमें से कुछ की नियुक्ति राजा करता था और कुछ लोगों के अपने न्यायालय होते थे जिन्हें स्मृतियां न्याय प्रदान करने की शक्ति रखने वाले न्यायालयों के रूप में मान्यता प्रदान करती थीं। ये आरोही क्रम में इस प्रकार थे :

1. कुल (समूह अथवा परिवार परिषद) : ये वादकारियों के परिवार अथवा जाति

के निष्पक्ष व्यक्तियों का समूह होता था जो पंचायतदार या पंचायत मंडलियों के रूप में काम करता था और परिवार अथवा जाति के लोगों के आपसी विवादों का निर्णय करता था;

2. श्रेणी (निगम) : जिस प्रकार वणिक श्रेणियों में माध्यस्थम् व्यवस्था थी वैसे ही ये न्यायालय भी एक ही शिल्प, व्यवसाय अथवा व्यापार में लगे लोगों के निगमों से बनाए जाते थे;
3. गण (क्षेत्रीय सभा) : यह एक ही स्थान के किंतु भिन्न भिन्न जातियों तथा आजीविकाओं में लगे लोगों की सभा के रूप में थे;
4. अधिकृत (राजा द्वारा नियुक्त न्यायालय);
5. नृप (राजा के न्यायालय)।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, किसी गांव अथवा नगर विशेष में स्थापित न्यायालय भी होते थे, जिन्हें 'प्रतिष्ठित' कहा जाता था। 'अप्रतिष्ठित' न्यायालय चलते-फिरते न्यायालय थे जो गांवों में घूम घूम कर न्याय करते थे। 'मुद्रित' वह न्यायालय था जिसकी नियुक्ति राजा करता था और जिसे राजमुद्रा प्रयोग करने का अधिकार था। शासित उस न्यायालय को कहते थे जिसकी अध्यक्षता राजा करता था।

अधिकारिता

कुल, श्रेणी और गण उन विवादों को छोड़कर जो साहस की कोटि में आते थे, शेष सभी विवादों का निर्णय कर सकते थे। अर्थदंड और शारीरिक दंड का निर्णय केवल राजा ही कर सकता था।

लोक न्यायालय पंचायतदारों से बनते थे। इन्हें हिंसा के प्रयोग से युक्त अपराधों के विचारण को छोड़कर शेष सभी प्रकार के सिविल और दांडिक मामलों को निपटाने का अधिकार था। इन न्यायालयों को अर्थदंड और शारीरिक दंड के निष्पादन का अधिकार नहीं था। ऐसे मामले राजा के समक्ष ही ले जाने होते थे—ऐसे दंडादेशों का अनुमोदन करने और दंड निष्पादित करने का आदेश देने का अधिकार केवल राजा को ही था।

कुल के निर्णय की समीक्षा श्रेणी कर सकती थी और श्रेणी के निर्णय की समीक्षा करने का अधिकार गण को था। न्यायाधीशों को गण के निर्णय की समीक्षा करने की शक्ति थी और राजा उच्चतम अपीली न्यायालय था जिसका निर्णय अंतिम होता था।

अपने राज्य के उच्चतम न्यायालय के रूप में कार्य करने का राजा का विशेषाधिकार सर्वमान्य था। कोई भी पक्षकार कुल, श्रेणी, गण आदि अधिकरणों या अन्य किसी न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के पुनर्विलोकन के लिए राजा से निवेदन कर सकता था। याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि राजा किसी भी दोषपूर्ण निर्णय का पुनर्विलोकन करके उसे अपास्त कर सकता है, भले ही वह निर्णय स्वयं राजा ने ही दिया हो। राजा वाद का खर्च भी दिलवा

सकता था। संप्रभु राजा की इस शक्ति की तुलना मुगल शासकों की और प्रिवी काउंसिल के माध्यम से प्रयोग की जाने वाली ब्रिटिश सम्राट की शक्ति से की जा सकती है। यह शक्ति संप्रति भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 द्वारा उच्चतम न्यायालय को दी गई है। यही उच्चतम न्यायालय की पुनर्विलोकन की शक्ति का स्रोत है।

राजा का न्यायालय

शासित अर्थात वह न्यायालय जिसकी अध्यक्षता राजा करता था, राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। स्मृतियों के अनुसार यह न्यायालय राजधानी में राजमहल में अवस्थित होना चाहिए।

राजा, प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) और सभ्य (न्यायाधीश) इस न्यायालय के न्यायिक अधिकारी होते थे। गणक (लेखाकार), लेखक (लिपिक) और स्वपुरुष (कुर्क अमीन) न्यायालय के गैर-न्यायिक अधिकारी होते थे।

राजा को अंतिम डिक्री पारित करने की शक्ति थी। मुख्य न्यायाधीश को वादों पर अपनी अंतिम राय देनी होती थी और न्यायाधीशों का कर्तव्य प्रत्येक मामले के गुणावगुण का अन्वेषण करना था। गणक का काम वाद के दावों का परिकलन करना और लेखक का काम न्यायालय की कार्रवाई का अभिलेख रखना था। अभिलेख में वादपत्र, साक्ष्य और न्यायालय के निर्णय सम्मिलित थे। प्रतिवादी, परामर्शकों और साक्षियों की उपस्थिति को सुनिश्चित करने का उत्तरदायित्व स्वपुरुष का था। आदेश स्मृतियों के आधार पर दिए जाते थे। शपथ दिलाने के लिए स्वर्ण और अग्नि का प्रयोग होता था।

मुख्य न्यायाधीश

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए वही व्यक्ति पात्र समझा जाता था जो विधि का अच्छा ज्ञाता हो, तर्क, मीमांसा और अन्य संबद्ध विषयों में पारंगत हो, वेद तथा स्मृतियों का अधिकारी विद्वान हो और विधि को प्रयुक्त करके न्यायिक कार्रवाइयों में से सत्य का शोध कर सकने की क्षमता रखता हो।

न्यायाधीश और उनकी योग्यताएं

सम्राट ऐसे सम्माननीय व्यक्तियों को न्यायालय के सदस्य नियुक्त करता था जिनकी ईमानदारी जांची-परखी जा चुकी हो और जो न्याय के प्रशासन का भार उठा सकने में समर्थ हों। इनसे यह भी आशा की जाती थी कि वे धर्मशास्त्र और साथ ही, विधिशास्त्र के नियमों के ज्ञाता होंगे, कुलीन होंगे तथा मित्रों और शत्रुओं के प्रति समभाव रखने वाले होंगे।

सम्राट न्याय का स्रोत होने के नाते इन न्यायाधीशों पर निर्भर रहता था। यह उसके हित में ही था कि न्यायाधीश के पदों पर आसीन व्यक्ति विश्वसनीय और योग्य हों।

न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की योग्यताओं में कात्यायन ने कुछ और कसौटियां जोड़ी हैं जो इस प्रकार हैं :

1. न्यायाधीश निर्दयी नहीं होना चाहिए, उसका स्वभाव मृदु हो, वह दयालु, चतुर और ऊर्जावान हो किंतु लालची न हो;
2. न्यायाधीश का अध्ययन ज्ञान की किसी एक ही शाखा तक सीमित न हो। उसे अनेक शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों से संपन्न ब्राह्मण को वरीयता दी जाती थी। यदि ऐसा कोई ब्राह्मण उपलब्ध न हो तो इन्हीं योग्यताओं से संपन्न किसी क्षत्रिय अथवा वैश्य की नियुक्ति की जा सकती थी। इन नियुक्तियों के लिए शूद्रों की सिफारिश कभी नहीं की जाती थी क्योंकि उस काल के परिवेश में शूद्रों से धर्मग्रंथों का अध्ययन करने की अपेक्षा नहीं थी।

सभी धर्मशास्त्रों और स्मृतियों की स्पष्ट आज्ञा है कि न्याय करना न्यायाधीशों का परम धर्म है।

यह विधान था कि,

1. यदि कहीं धर्म (न्याय) को क्षति पहुंची हो या अधर्म (अन्याय) के हाथों धर्म की हानि हुई हो और न्यायाधीश अन्याय का निराकरण करने में असफल रहे हों तो वे अपने धर्म-विरुद्ध कार्य (या लोप) के लिए कष्ट के भागी होंगे;
2. जहां अधर्म (अन्याय) द्वारा धर्म (न्याय) को नष्ट करने का प्रयास किया जाएगा अथवा असत्य द्वारा सत्य के नाश का प्रयास होगा और न्यायाधीश उसे नहीं रोक पाएंगे, मूक दर्शक बने रहेंगे तो ऐसे न्यायाधीश निश्चित रूप से नष्ट हो जाएंगे।

विधि का प्रशासन

कुल, गण अथवा ग्राम के स्तर पर जब न्याय होता था तब न्याय प्रशासन में जिस विधि का प्रयोग होता था वह चलन और प्रथा पर आधारित थी। धार्मिक विधि के क्षेत्र में ऐसा नहीं था। कालांतर में, समाज के विद्वानों ने प्रथाओं का अध्ययन करके उन्हें निश्चित नियमों का रूप देकर ग्रंथों का निर्माण किया। यही आगे चलकर विभिन्न शाखाओं के धर्मसूत्र कहलाए।

गौतम ने यह अधिकथित किया है कि न्याय करते समय राजा तीन स्रोतों से अपनी विधि की व्युत्पत्ति करे :

1. धर्मशास्त्र जिसमें वेद, धर्मसूत्र, वेदांग तथा पुराण आते हैं;
2. देश, समुदाय तथा कुल के चलन और प्रथाएं;
3. खेतिहरों, व्यापारियों, चरवाहों, साहूकारों और शिल्पियों में प्रचलित नियम और प्रथाएं जिनका निर्माण विभिन्न समुदाय अपने मामलों के लिए करते थे।

प्राचीन ग्रंथों का यह भी कथन है कि यदि राजा कोई अनुचित कार्य करे तो न्यायालय के सदस्यों को उसका साथ नहीं देना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो वे भी राजा के साथ मुंह के बल नरक में गिरेंगे। यह भी कहा गया है कि यदि राजा कोई अनुचित कार्य करता है और न्यायाधीश उससे सहमति प्रकट करते हैं तो वे भी इस अनुचित निर्णय से उत्पन्न पाप के भागी होंगे। उन्हें चाहिए कि वे पहले उन बातों की चर्चा करें जो राजा को रुचिकर हैं। इस प्रकार राजा को अनुकूल करके, समझा-बुझाकर उसे सही रास्ते पर ले आएं।

यदि राजा किसी मामले में न्यायाधीश को अनुचित निर्णय देने का निदेश करे तो न्यायाधीश को इस प्रकार के निदेश के विरुद्ध राजा से अनुनय करनी चाहिए और उसे दोषपूर्ण काम करने से विरत करना चाहिए क्योंकि इससे अन्याय की ही उत्पत्ति होगी। न्यायाधीशों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाता था कि वे केवल विधि और न्याय के आधार पर ही अपने निर्णय दें। यदि राजा ऐसे निर्णयों की अवहेलना करे तो न्यायाधीशों को कोई पाप नहीं लगेगा।

हमें यह भी जानकारी मिलती है कि राजाओं से अपेक्षा की जाती थी कि वे कभी अपने मंत्रियों, न्यायाधीशों और चिकित्सकों से रुष्ट नहीं होंगे, विशेषकर तब जब वे स्पष्टभाषण करें, क्योंकि उनसे यह आशा की जाती थी कि वे केवल राजा को रुचिकर लगने वाली बात ही नहीं कहेंगे बल्कि वह कहेंगे जो उन्हें उचित और सही लगती है। जिस राज्य में मंत्रियों, न्यायाधीशों और चिकित्सकों को राजा के मनोनुकूल बात कहने के लिए बाध्य किया जाता है, उसका राजा धर्म की अवहेलना करने के कारण जल्दी ही अपने राज्य से वंचित हो जाएगा और वस्तुतः अपना सुख भी गंवा बैठेगा।

न्याय के प्रशासन में स्मृतियों द्वारा अधिकथित न्यायाधीशों की उदात्त भूमिका और उनके निर्भय, निष्पक्ष तथा स्वतंत्र रहते हुए अपना कार्य करने की अपेक्षाएं, भले ही उनके निर्णय राजा की इच्छा के विपरीत हों, बड़ी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। यह तथ्य कि प्राचीन विधिवेत्ताओं में इस प्रकार के उपबंध करने का साहस था, उनकी बुद्धिमत्ता का परिचायक है और कोई राजा ऐसे उपबंध करने वाले स्मृतिकारों के प्राधिकार पर प्रश्नचिह्न लगाने का साहस नहीं कर सकता था। ये उपबंध न्यायपालिका की स्वतंत्रता और राजा के लिए भी शिरोधार्य धर्म की सर्वोपरिता के परिचायक हैं, यह बताते हैं कि न्याय को कितना महत्व प्रदान किया गया था। यह धारणा उस परिभाषा के भी अनुरूप है, "धर्म राजाओं का भी राजा है।" विधि का आधार था जनता और राजा की धर्म के प्रति आस्था। यही न्यायपालिका की स्वतंत्रता की नींव थी। न्यायपालिका का यह कर्तव्य था कि वह राजतंत्र के अंतर्गत राजा के राज्याध्यक्ष होने पर भी धर्म की सर्वोपरिता सुनिश्चित करे।

धर्माधिकरण (न्याय मंदिर)

राजमहल के सभाकक्ष को धर्माधिकरण (न्याय मंदिर) कहा जाता था। स्मृतियों में यह विहित था कि राजसभा के लिए राजमहल में एक विशाल सभागार होना चाहिए। उसके परिसर में वृक्ष लगाए जाएं और उसके निकट जल की व्यवस्था की जाए। न्याय कक्ष में अपेक्षित संख्या में आसन हों जिन्हें फूलों और रत्नों से सजाया जाए और कक्ष की दीवारों पर देवी-देवताओं के चित्र और मूर्तियां लगी हों।

उच्चतम न्यायालय के रूप में नृपति के उत्तरदायित्व

स्मृतियों ने इस बात की आवश्यकता पर बल दिया है कि न्याय प्रशासन का उत्तरदायित्व स्वयं राजा को वहन करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति आरंभिक याचिका द्वारा अथवा किसी निचले न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध राजा से अपील कर न्याय मांग सकता था। अपरिहार्य परिस्थितियों को छोड़कर (उदाहरण के लिए यदि राजा राज्य के किन्हीं महत्वपूर्ण विषयों में व्यस्त हो) राजा को सदैव राजधानी में स्थित उच्चतम न्यायालय की अध्यक्षता करते हुए यथाविधि न्याय प्रदान करना होता था।

सम्राट केवल अपवाद के रूप में ही मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय की अध्यक्षता करने के लिए प्रतिनियुक्त अथवा प्राधिकृत कर सकता था। न्याय करना राजा का दैवी कर्तव्य माना जाता था। राजा के लिए राजसभा में सामान्यतया मुकुट और राजसी वेश धारण करके उपस्थित होना आवश्यक था। वह राजसिंहासन पर बैठकर ही कार्यपालक दायित्वों का निर्वाह करता था। किंतु न्यायिक दायित्वों का निर्वाह करते समय राजा को इस प्रकार के बहुमूल्य वेश का त्याग करना पड़ता था और उसे न्याय मंदिर में 'सादा वेश' और 'प्रसन्न मुद्रा' में प्रवेश करना होता था। इससे राजा के कार्यपालक और न्यायपालक दायित्वों के बीच भेद स्पष्ट हो जाता है। आज न्यायालयों में हम जो साज-सज्जा देखते हैं, वह संभवतया मुस्लिम शासकों की देन है जिसमें ब्रिटिश शासकों ने और वृद्धि कर दी क्योंकि वे शान-शौकत बहुत पसंद करते थे।

यदि व्यापारियों, शिल्पियों, दस्तकारों, कलाकारों आदि के विवादों में निहित तकनीकी समस्याओं के कारण न्यायालयों को सही निर्णय देने में कठिनाई अनुभव होती थी तो वे संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञों की परामर्शक के रूप में सहायता ले सकते थे। ये परामर्शक उन्हें विवाद के तथ्यात्मक प्रश्नों का निर्णय करने में सहायता कर सकते थे।

ऐसे विशिष्ट क्षेत्रों से संबंधित विवादों का निपटारा करने में विशेषज्ञों को मदद करने की उपयोगिता आधुनिक प्रणाली में भी स्वीकार की गई और अपनाई गई है। साक्ष्य अधिनियम निर्णय पर पहुंचने के लिए विशेषज्ञों के साक्ष्य को सुसंगत मानता है। आधुनिक काल में विशेष प्रकार के मामलों का निपटारा करने में विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है। इसके उदाहरणस्वरूप वे विशेष अधिकरण हैं जिनमें न्यायिक योग्यता वाले

व्यक्ति तो होते ही हैं साथ ही उन अधिकरणों से संबंधित विषयों की तकनीकी अथवा वृत्तिक योग्यता एवं अनुभव वाले व्यक्ति भी होते हैं।

सर्वसम्मत निर्णय, जिनमें शंका के लिए स्थान न हो, सर्वोत्तम विकल्प माने जाते थे। जिन मामलों में न्यायाधीशों के बीच एक राय न हो, उनका निर्णय सभ्यों (न्यायाधीशों) के बहुमत से किया जाता था—यही पद्धति आज भी प्रचलित है।

राजा को न्यायाधीशों की राय माननी पड़ती थी या उनकी सलाह पर चलना पड़ता था, इसका यह अर्थ नहीं था कि मामलों के निपटारे में राजा का कोई उत्तरदायित्व नहीं था। नियमों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राजा को बड़ी सावधानी के साथ वादों का विचारण करना चाहिए और न्यायाधीशों की राय मानते हुए विधि के अनुसार निर्णय देना चाहिए। इन नियमों का आशय यह है कि राजा को न्यायाधीशों की राय केवल विधि के प्रश्न पर माननी आवश्यक है किंतु तथ्य के प्रश्न पर उसे अपनी बुद्धि का प्रयोग कर स्वयं ही निर्णय पर पहुंचना चाहिए। तथ्य के प्रश्न पर किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व राजा न्यायालय की सहायता के लिए नियुक्त श्रेष्ठियों की सहायता भी ले सकता था। विचारण के दौरान राजा के कर्तव्यों के विषय में यह अधिकथित है कि वह पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य के विषय में सावधानी बरते। साक्षियों द्वारा न्यायालय के समक्ष कथन करते समय राजा को भाव-भंगिमा पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। राजा अथवा न्यायाधीश विधि में पारंगत किसी व्यक्ति की सहायता ले सकते थे। यह वर्तमान प्रणाली में न्यायालयों द्वारा की जाने वाली 'न्याय मित्र' की नियुक्ति से मिलती-जुलती है। राजा से आशा की जाती थी कि वह विचारण के दौरान पूरी तरह सावधान रहेगा। वह सर्वोच्च प्राधिकारी था जिसे विधिक प्रश्नों पर न्यायाधीशों की राय लेने के बाद सिविल मामले में अंतिम आदेश करना होता था और दांडिक मामले में दंड देना होता था।

सिविल और दांडिक मामलों के बीच स्पष्ट भेद था। जब राजा सिविल मामलों में न्यायालय की अध्यक्षता करता था तो उसे न्यायाधीशों की राय माननी होती थी। यदि वह अध्यक्षता नहीं करता था तो न्यायालय का निर्णय अंतिम होता था, किंतु राजा को पुनर्विलोकन का अधिकार होता था। दांडिक मामलों में एक विशेष उपबंध करके राजा को दंड की मात्रा निश्चित करने की शक्ति दी गई थी।

कौटिल्य की न्याय की संकल्पना

मौर्यकाल का न्यायिक संगठन और विधिक प्रक्रिया 'अर्थशास्त्र' की न्याय की संकल्पना पर आधारित थी। यह एक देश विशेष की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों और उनसे निपटने की उसकी क्षमता का परिणाम थी। न्याय का विकास उस समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से जुड़ा था। नैतिक एवं राजनीतिक सिद्धांतों ने विधि के उद्भव और विकास का निर्धारण किया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक विशद संहिता है

जिसमें नागरिक के जीवन और उसकी संपत्ति की रक्षा के लिए विधिक उपबंध है। अधिक्रमण, मानहानि, प्राण और संपत्ति की हानि अथवा नाश, व्यक्ति के स्वातंत्र्य के हनन और राजकीय कर्मचारियों द्वारा नागरिकों पर किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने के बारे में उपबंध हैं।

विश्व के प्रारंभिक काल में न्यायिक प्रणाली में सम्राट द्वारा बनाए गए विधान की प्रधानता थी। संहिता निर्माण के प्रयोजन थे - (1) राजा के शरीर और उसके अधिकारों की रक्षा करना; (2) सुशासन के लाभ सुनिश्चित करना; और (3) ऐसे अपराधों के लिए दंड निश्चित करना जिनके बारे में प्राचीन विधियों में कोई उपबंध नहीं था।

कौटिल्य की विधि की संकल्पना कठोर किंतु व्यापक और सर्वसमावेशी थी। उसके अनुसार, विधि एक शाश्वत व्यवस्था है। न्याय और कर्तव्य है। दंड राज्य का आधार है। विधि की रचना लोगों की आवश्यकताओं और उनकी आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप की जाती है। कौटिल्य का कथन था कि 'विधि एक राजकीय समादेश है जो अनुशास्ति द्वारा प्रवर्तित होती है और सभी प्रकार के मानवीय कार्यकलाप का नियमन करती है।' वह दंड को राजनीति का मूल स्रोत मानता था। राजा सर्वोच्च प्राधिकारी था। पर उससे आशा की जाती थी कि न्याय करते समय वह मनमानी नहीं करेगा।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में दो प्रकार के न्यायालय थे : (i) धर्मस्थीय अर्थात सिविल न्यायालय; तथा (ii) कंटकशोधन अर्थात दांडिक न्यायालय। धर्मस्थीय न्यायालयों का संगठन और निदेशन अमात्य करते थे। उनका प्रमुख कार्य पारंपरिक नियमों और विनियमों के उल्लंघन से उत्पन्न होने वाले मामलों का निपटारा करना था। वे हल्के जुर्माने कर सकते थे और उनका कार्यक्षेत्र धर्मस्थीय नियमों को लागू करने तक सीमित था।

कंटकशोधन का महत्व सामाजिक तथा संवैधानिक दृष्टि से बहुत अधिक था। वह विभिन्न आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का विनियमन करता था और यह भी प्रदर्शित करता था कि न्यायालय का उद्भव राजकीय अध्यादेशों से हुआ है। उसकी अधिकारिता में पुलिस, लोक सुरक्षा, आपराधिक दंड तथा साधारण और गंभीर दोनों प्रकार के अपराधों के लिए कार्रवाई करना था। कंटकशोधन न्यायालय के दो मुख्य खंड थे—नगरीय और ग्रामीण। इस न्यायालय का उद्देश्य राजकीय विधियों का सूक्ष्मता से पालन करना, राष्ट्र के प्रशासनिक संगठन का विनियमन तथा प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यकलाप को विधि के अधीन रखना था।

इस न्यायालय का एक अन्य महत्वपूर्ण काम देश को दुर्भिक्ष और महामारी से बचाना था। आगे चलकर इसके साथ विधिशास्त्रियों को भी संबद्ध कर लिया गया जिससे कि भारत के प्रथम संगठित साम्राज्य के तत्वावधान में पहली बार नियंत्रित एवं विनियमित

सभी मामलों में एक अत्यंत सुसंगठित अधिकारीतंत्र के निर्णयों को लागू करने में सहायता मिल सके। कंटकशोधन न्यायालय का उद्देश्य असामाजिक तत्वों से लोगों को सुरक्षा प्रदान करना था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कंटकशोधन एक बड़ा महत्वपूर्ण न्यायालय था। इसे एक न्यायिक-कल्प विभाग माना जा सकता है जिसकी तुलना इग्लैंड के स्टार चैंबर न्यायालय से की जा सकती है। इसी न्यायालय में राजकीय विधियों और विनियमों के उल्लंघन से उत्पन्न विवादों का विचारण होता था। इन न्यायालयों के अधीन निम्नलिखित महत्वपूर्ण विषय आते थे :

1. शिल्पियों के हितों का संरक्षण;
2. वणिकों के हितों का संरक्षण;
3. राष्ट्रीय आपदाओं का सामना करने के उपाय;
4. लोगों को घृणित साधनों से जीवनयापन करने से रोकना;
5. आपराधिक प्रवृत्ति वाले युवाओं की पहचान;
6. संदेह होने पर अपराधियों की धर-पकड़;
7. सहसा मृत्यु के मामलों की जांच;
8. पतित स्त्रियों के साथ मैथुन के मामले;
9. न्याय का उल्लंघन करने के लिए दंड; तथा
10. यंत्रणा द्वारा अवैध संस्वीकृति के मामलों में विचारण।

यह स्मरणीय है कि कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश प्रायः उच्चपदस्थ कार्यपालक अधिकारी होते थे जिन्हें न्यायिक कार्यों के लिए नियुक्त किया जाता था। ये धर्म, विधि और न्याय पर दृढ़ रहने वाले अधिकारी होते थे। उन दिनों कार्यपालिका और न्यायपालिका एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं थीं। कार्यपालक अधिकारी कंटकशोधन न्यायालयों की अध्यक्षता भी करते थे। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य सदा न्यायाधीशों की पीठ की बात करता है, मात्र एक न्यायाधीश की अध्यक्षता वाले न्यायालय की नहीं।

स्थानीय एवं प्रादेशिक न्यायालय

उपर्युक्त दो महत्वपूर्ण न्यायालयों के अतिरिक्त अशासकीय न्यायालय भी बहुत बड़ी संख्या में कार्यरत थे—कौटिल्य अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक मामलों का उल्लेख है जो अशासकीय न्यायालयों की अधिकारिता में आते थे। न्याय-प्रशासन के विकेंद्रीकरण का कारण संभवतया यह था कि इससे न्याय देने में विलंब नहीं होता था और मामलों के अन्वेषण से संबद्ध अन्य जटिलताओं से बचा जा सकता था। यह भी अपेक्षा थी कि स्थानीय जनता को स्थानीय

समस्याओं की अपेक्षाकृत अच्छी जानकारी होगी। इसीलिए सीमाओं से संबंधित विवाद गांव के बड़े-बूढ़े ही निपटा देते थे। हर गांव से आशा की जाती थी कि ग्राम जीवन के प्रत्येक पक्ष के संबंध में वह सार्वजनिक उत्तरदायित्व की भावना का परिचय देगा। जाति तथा धर्म से संबंधित अपराधों का विचारण परिषद द्वारा किया जाता था। धारणा यह थी कि इस प्रकार के मामले उन्हीं लोगों द्वारा दक्षतापूर्वक निपटाए जा सकते हैं जो इस क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं।

कौटिल्य ने साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रादेशिक खंडों एवं उपखंडों के न्यायालयों के प्रति निर्देश किया है। ये खंड थे, संग्रहण (10 गांवों का); द्रोणमुख (400 गांवों का) तथा स्थानीय (800 गांवों का)। परंतु उसने यह नहीं बताया है कि न्यायाधीशों और न्यायालयों का कोई श्रेणीकरण किया गया था या कि बड़ी अथवा छोटी प्रशासनिक इकाइयों के सभी न्यायालयों की अध्यक्षता एक ही दर्जे के न्यायाधीश करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजसभा के लिए तीन धर्मस्थों और तीन अमात्यों की नियुक्ति का उल्लेख मात्र है। राजसभा के लिए सर्वत्र, विशेषकर छोटी इकाइयों में जाकर, मामलों की सुनवाई करना संभव नहीं हो सकता था। अतः इस बात की संभावना प्रतीत होती है कि न्यायपालिका का कुछ हद तक विकेंद्रीकरण था। यद्यपि राजा के समक्ष अपील करने का अंतर्निहित अधिकार था किंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि एक न्यायालय से दूसरे उच्चतर न्यायालय में अपील करने की दृष्टि से न्यायालयों का श्रेणीकरण किया गया था। कंटकशोधन न्यायालयों का काम सिद्धदोष अपराधियों को दंड देना तो था ही, असामाजिक व्यक्तियों और समूहों के कार्यकलाप की कठोरता से निगरानी करना भी था। उन्हें अपराधों तथा असामाजिक कार्यकलाप के बारे में जानकारी लेने के लिए आवश्यक अन्वेषण करना और वास्तविक अथवा संभावित अपराधियों को पकड़ना भी होता था।

मौर्यों की न्यायिक प्रणाली बिंदुसार की मृत्यु तक यथावत चलती रही। किंतु अशोक के शासनकाल में अनेक उल्लेखनीय प्रशासनिक परिवर्तन किए गए जिनमें नए अधिकारियों की नियुक्ति और उनके कर्तव्यों का विस्तार भी था। इन अधिकारियों को रज्जुक, महामात्र तथा प्रादेशिकन कहा जाता था। रज्जुकों के उत्तरदायित्वों में वृद्धि हो गई क्योंकि उन्हें कार्यपालक और न्यायिक, दोनों शक्तियां दे दी गईं। अशोक के स्तंभ राजादेश IV से पता चलता है कि दंडनीय अपराधों के लिए गिरफ्तारी, कारावास और मृत्युदंड का विधान था।

अशोक के राजादेशों में उस महान सम्राट की न्यायिक प्रणाली के बड़े ही दिलचस्प ब्यौरे दिए गए हैं। यह प्रणाली, कुल मिलाकर, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित न्यायपालिका की संरचना से मिलती-जुलती थी। ह्वेन सांग के अनुसार अपने आरंभिक वर्षों में अशोक एक नृशंस राजा था जिसने एक कारागारं बनवाया था जिसे नरक कहते थे। अशोक के

राजादेश उसकी आरंभ की न्यायिक प्रणाली की कठोरता के साक्षी हैं। धौली का शिलालेख अशोक के अधीन न्यायपालिका के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालता है। यह अभिलेख इस वक्तव्य के साथ आरंभ होता है कि देवानांप्रिय की आज्ञा है कि तोशाली (उड़ीसा) के महामात्रों को, जो नगर (नगल वियोहतक) के न्यायिक अधिकारी हैं, यह बता दिया जाए। इसके बाद सम्राट कहता है :

> आप (तोशाली के महामात्र) सहस्रों लोगों की देखभाल उनका स्नेह पाने के उद्देश्य से कर रहे हैं .... और आप यह नहीं जानते कि इससे मेरे ध्येय की पूर्ति कहां तक होती है। कोई एक व्यक्ति इसे समझ पाता है और वह भी (केवल) अंशमात्र, संपूर्ण नहीं। जो न्याय के प्रशासन में श्रांति का अनुभव करता है, वह समृद्धि को प्राप्त नहीं होगा।

राजादेश के उपर्युक्त उद्धरण से हम अशोक की न्यायिक प्रक्रिया के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

1. नगर अधिकारी उच्चपदस्थ होते थे अर्थात महामात्रों का वास्ता सहस्रों लोगों से पड़ता था;
2. उनका कर्तव्य सम्राट के आदेशों को लागू करना था और उनसे आशा की जाती थी कि वे दंडनीति के अनुसार न्याय का प्रशासन करेंगे और मामलों का निर्णय करेंगे;
3. न्यायाधीशों को निष्पक्ष रहकर अपना कार्य करना होता था और उनके लिए अनेक उल्लिखित प्रवृत्तियों से या क्रोध अथवा जल्दबाजी से बचना आवश्यक था।

वस्तुतया अशोक की न्यायिक प्रणाली का आधार नीति था जिसे दंडनीति माना गया है। अशोक के राजादेश में कहा गया है कि न्यायिक कार्रवाइयों में और दंड देने में निष्पक्षता वांछनीय है। अशोक इस मामले में बड़ा सावधान था। वह यह सुनिश्चित करता था कि पांच वर्ष में एक बार उसके उच्च अधिकारी अर्थात युक्त, रज्जुक और प्रादेशिकन पूरे देश में घूमकर देखें कि न्यायाधीश अपने कर्तव्यों का निर्वाह सम्यक रूप से कर रहे हैं या नहीं।

उपलब्ध सामग्री से पता चलता है कि अशोक के काल में भारतीय न्यायालयों की दो श्रेणियां थीं : मुख्य (नियमित) तथा अमुख्य (विशेष)। अमुख्य वे विशेष न्यायालय थे जो विशेष व्यवसायों, व्यापार श्रेणियों और जातियों से संबंधित पक्षों के उन मामलों का विचारण करते थे जिनका निर्णय उन वर्गों पर लागू होने वाली विशेष विधियों अथवा रीतियों के अनुसार करना होता था। नियमित न्यायालय या तो प्रतिष्ठित (अचल) होते थे या अप्रतिष्ठित (अचल) और इनके भी दो वर्ग थे - 'शासित' अर्थात वे न्यायालय जिनकी अध्यक्षता स्वयं राजा करता था और 'मुद्रित' जिनकी अध्यक्षता राजमुद्रा द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों द्वारा की जाती थी। सामान्यतया यह उपधारणा है कि नियमतः उच्चतम

न्यायालय की अध्यक्षता राजा स्वयं करता था और प्रादेशिक न्यायालयों की अध्यक्षता करने के लिए वह न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। मनु के अनुसार, यदि राजा न्यायालय की अध्यक्षता स्वयं न कर सके तो उसे अपना प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार था और इस प्रकार नियुक्त अधिकारी को राजा की सभी शक्तियों का प्रयोग करने का अधिकार होता था।

अशासकीय न्यायालय और उनकी उपादेयता

लोगों को न्याय देने के लिए सभा (ग्राम सभा) से लेकर राजा के न्यायालय (राज्य सभा) तक न्यायालयों का एक क्रमिक सोपान था और इनके अतिरिक्त अनेक अशासकीय न्यायालय भी थे। कौटिल्य और मनु ने न्यायालयों के श्रेणीकरण की दो भिन्न भिन्न प्रणालियां प्रस्तुत की हैं। कौटिल्य ने अशासकीय न्यायालयों को उतना महत्व नहीं दिया है जितना कि मनु ने दिया है। कौटिल्य की योजना में न्यायालय संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय और जहां जिले मिलते हों वहां स्थापित किए जाते थे। मनु की योजनानुसार, जिसे याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति और कात्यायन ने भी अपनाया था, न्यायालयों की स्थापना तथा श्रेणीकरण का आधार सभा प्रणाली थी। इसी विचार से कौटिल्य ने, जो एक अत्यंत केंद्रीकृत सरकार का पक्षधर था, अनेक मामले अशासकीय न्यायालयों की अधिकारिता में दे दिए। उदाहरण के लिए, सीमाओं से संबंधित विवादों का निपटारा गांव के वृद्धजन करते थे।

कुल मिलाकर, प्राचीन भारतीय विधि एवं न्यायिक प्रक्रिया, जिसका आरंभ वैदिक काल से हुआ और समापन मध्यकाल में हुआ, पर्याप्त विकसित थी। कौटिल्य के विधि प्रक्रिया संबंधी नियमों में न केवल वादी, प्रतिवादी और साक्षियों की परीक्षा का उल्लेख है अपितु ऐसे तकनीकी विषयों की भी चर्चा है जैसे कि वादपत्र की रचना, वादी तथा प्रतिवादी को अपने अपने पक्ष कथन के लिए सुनवाई का स्थगन, विधिक संव्यवहारों के लिए अनर्हताएं और वाद के निर्णय के आधार। वादपत्र में, विशेषकर ये बातें होना आवश्यक था—(वाद विषय का) वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष तथा तिथि, संगत दस्तावेज, वाद की सुनवाई करने वाले न्यायालय का नाम, प्राप्य ऋण अथवा किसी अन्य प्रकार के द्रव्य की राशि, वादी तथा प्रतिवादी के देश, गांव, जाति और परिवार सहित उनके नाम तथा व्यवसाय एवं वादग्रस्त पक्षों के पारस्परिक संबंध। यह भी जानकारी मिलती है कि कुछ मामलों में वाद के पक्षकारों के द्वारा राजा को कुछ न्यायालय शुल्क भी देना पड़ता था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वाद पक्षों को स्थगन-अवधि मंजूर करने के संबंध में कौटिल्य के समान गौतम ने भी एक व्यवस्था दी है।

आगे के अध्यायों में, जिनमें वर्तमान न्यायालयों और उनके स्तरों, स्वरूप, प्रक्रियाओं आदि का वर्णन है, हम पाएंगे कि उनमें हमारी उपर्युक्त प्राचीन प्रशासन तथा न्याय प्रणाली से—जो काफी विकसित थी—कोई बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया है।

2

मुगल काल

मुगलों के अधीन न्यायिक प्रणाली का विकास तीन कालों में बांटा जा सकता है :

1. अकबर के शासन से पूर्व का काल;
2. अकबर के शासन को समाहित करने वाला काल (1556 से 1606); और
3. अकबर के पश्चात् अंग्रेजी राज के प्रारंभ तक का काल।

साधारणतया शरीअत (मुस्लिम विधि) सभी लोगों और वादों से ऊपर मानी जाती थी। इस्लामी विधि शास्त्र का उद्भव मुख्यतया कुरान और सुन्ना (पैगंबर साहब के व्यवहार और परंपराओं) से हुआ है। लेकिन जब अनन्य इस्लामी विधि भारत के वृद्धिगत और मिश्रित समाज की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त प्रतीत होने लगी तो सार्वजनिक सहमति को विधि के अतिरिक्त स्रोत के रूप में जोड़ दिया गया। अकबर के शासनकाल से पहले न्यायिक प्रक्रिया पर भी पारंपरिक मुस्लिम विधि लागू की जाती थी। इस पद्धति को लागू करने में जब अनेक कठिनाइयां आने लगीं तो इसकी अपर्याप्तता का क्रमशः बोध हुआ और तब प्रशासन में कई समझौते किए गए और ढीलें दी गईं। लेकिन वास्तविक परिर्वतन अकवर के शासनकाल में ही आया जब उसने गैर मुस्लिमों के विरुद्ध जो भेदभावपूर्ण विधियां थीं उन्हें काफी हद तक निरस्त कर दिया और सभी के लिए न्याय की एक समान प्रणाली स्थापित की। वैसे, उसके उत्तराधिकारी ने शिथिलीकरण के इस क्रम को पूरी तरह आगे नहीं बढ़ाया। अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद, अठारहवीं शताब्दी में कठोर इस्लामी विधि का अंत हो गया।

मुगल काल में न्यायिक प्रणाली बगदाद और मिस्र के खलीफाओं के प्रतिदर्श पर थी और उसका स्वरूप लगभग वही था जैसा कि मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने निर्धारित किया था और दिल्ली के सुल्तानों ने उत्तर भारत में कायम किया था। बादशाह को केंद्र माना जाता था चाहे वह राजधानी में हो या कहीं बाहर डेरा डाले हो, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय वही था। वह धुरी था; सब कुछ उसी के चारों ओर घूमता था। उसकी सभी मामलों पर मूल अधिकारिता थी। उसके समक्ष अपीलें की जा सकती थीं। जैसा कि जहांगीर के वृत्तांत

में आता है, कोई भी आदमी आकर घंटा बजा सकता था और अगर बादशाह की मर्जी होती तो वह उसी समय न्याय कर सकता था जिसकी कोई अपील नहीं होती थी।

राजधानी में, बादशाह के नीचे दीवाने आला और मुख्य क़ाज़ी (क़ाज़ी-उल-कज्जात) होते थे। प्रांतों में सूबेदार, दीवान और प्रांतीय क़ाज़ी और सेंकदार थे, और परगनों में अमीन तथा क़ाज़ी न्याय करते थे।

तुर्की और फारस के बादशाहों की तरह, मुगल सम्राट भी न्याय का उद्गम था और खुले दरबार में स्वयं मुकदमों का विचारण करने की परंपरा का निर्वाह करता था। मुकदमों का विचारण करते समय सम्राट दीवाने खास में बैठता था। सम्राट का न्यायालय सर्वोच्च अपीली न्यायालय था; वह देश का सर्वोच्च अधिकरण था। शाही दरबार में स्वयं सम्राट, क़ाज़ी, मुफ्ती और आदिल होते थे। सम्राट के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए दारोगा-ए-अदालत और कोतवाल उपस्थित रहते थे।

विभिन्न प्रकार के मामलों को निपटाने के लिए विभिन्न प्रकार के न्यायालय थे; भूमि के अधिकारों से संबंधित विवादों के लिए राजस्व न्यायालय थे; विवाह, उत्तराधिकार, विवाह विच्छेद आदि के मामलों के लिए क़ाज़ियों के न्यायालय थे; धर्मेतर और अपरिभाषित अपराधों के विचारण के लिए प्रशासनिक अधिकारियों की अध्यक्षता वाले पंथनिरपेक्ष न्यायालय थे और न्यायिक संगठन के बाहर जाति न्यायालय तथा ग्राम पंचायतें थीं।

तत्कालीन न्यायालयों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

1. धार्मिक विधि को लागू करने वाले न्यायालय जिनकी अध्यक्षता क़ाज़ी करते थे;
2. लौकिक मामलों का निर्णय करने वाले न्यायालय जिनकी अध्यक्षता सूबेदार (गवर्नर) और अन्य अधिकारी करते थे;
3. राजनीतिक मामलों का निर्णय करने वाले न्यायालय जिनकी अध्यक्षता सम्राट अथवा उसके अभिकर्ता करते थे।

धार्मिक विधि के न्यायालय

परिवार विधि अथवा उत्तराधिकार की वे बातें जिन्हें साधारणतया धार्मिक विवादों से संबद्ध समझा जाता था और वक्फों से संबंधित विधिक प्रश्नों पर क़ाज़ी द्वारा विचार किया जाता था।

सबसे ऊंचे क़ाज़ी को क़ाज़ी-उल-कज्जात कहते थे और वही हर प्रांत में क़ाज़ियों की नियुक्ति करता था। वे सप्ताह में पांच दिन अर्थात शनिवार, रविवार, सोमवार, मंगलवार और बृहस्पतिवार को अपना काम करते थे और बुधवार को उन्हें सूबेदार के दरबार में हाजिर होना पड़ता था। शुक्रवार को छुट्टी रहती थी।

सद्र साम्राज्य के सिविल न्यायाधीश होते थे। मुख्य सद्र, सदरुस सदूर या सदर-ए-जहां कहलाता था। उसे सदरे कुल भी कहते थे। उसका काम हर प्रांत में स्थानीय सद्र की नियुक्ति करना था। मुख्य सद्र के अनुदेश पर स्थानीय सद्र माफी की जमीन और दैनिक भत्ता पाने वालों की सूचियां तैयार करते थे। सद्र का काम यह सुनिश्चित करना भी था कि वेतन पाने वाले लोग सम्राट के आदेशों का पालन करें। वह उनकी मृत्यु की जानकारी भी रखता था। सम्राट का दान मुख्य सद्र के द्वारा वितरित किया जाता था।

लौकिक मामलों के न्यायालय

ये न्यायालय क़ाज़ी के अधीन नहीं होते थे। वे अलिखित रूढ़ियों, सामान्य विधि या जनजाति की विधियों को लागू करते थे और उनका धार्मिक विधि से कोई संबंध नहीं था। इन न्यायालयों के मुंसिफ गैर-मुस्लिम भी हो सकते थे। विभिन्न मामलों में राज्य की आवश्यकताओं या वैयक्तिक रुचि के अनुसार सम्राट या उसके अभिकर्ता (क़ाज़ी नहीं) के द्वारा जो निर्णय किए जाते थे, उन्हें उर्फ कहते थे। ये मुख्यतया राज्य के या विधि व्यवस्था के विरुद्ध अपराध जैसे कि विद्रोह, अनिष्ठापूर्ण व्यवहार, सिक्कों का धातुक्षरण, वल्वा, चोरी, राजमार्गों पर लूट और हत्या आदि के मामले होते थे। ये न्यायालय सामान्य विधि या राजनीतिक अपराधों से संबंधित मुकदमों की सुनवाई करते थे।

उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत कठोर नहीं था; सत्रहवीं शताब्दी में क़ाज़ी सभी प्रकार के मामलों की सुनवाई करता था—सिविल, दांडिक, धार्मिक और लौकिक। यह बात दक्षिण से प्राप्त, औरंगजेब के शासन के 46वें वर्ष के अजमेर सूबे के अखबारात से पता चलती है।

न्यायालय की अधिकारिता सीमित नहीं होती थी। अधिकारिता की दृष्टि से मामलों का वर्गीकरण अपराधों की गंभीरता अथवा विवादग्रस्त संपत्ति के मूल्य पर आधारित नहीं होता था। न्यायालय अधिकारिता की दृष्टि से उच्चतर या निम्नतर नहीं होते थे जैसा कि आज है। न्यायालयों का स्तर उनकी अध्यक्षता करने वाले की श्रेणी पर निर्भर करता था। कोई दो न्यायालय अधिकारिता या दावे की रकम के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न नहीं थे। उच्चतर न्यायालय मामले को निचले न्यायालय में भेज सकता था।

इसी प्रकार, श्रेणीबद्ध अपीली न्यायालय नहीं थे। यह इसलिए आवश्यक नहीं था कि यदि कोई एक पक्ष निचले न्यायालय के निर्णय से संतुष्ट नहीं होता था तो वह अपने साधनों के अनुसार, किसी भी न्यायालय में अपील कर सकता था। यह इस कारण भी था कि अपीली न्यायालय कभी निचले न्यायालय के अभिलेख को नहीं पढ़ता था। वह अपने साधनों से पूरे मामले का नए सिरे से अन्वेषण करता था।

किसी मामले में उच्चतर न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय निचले न्यायालय के लिए अनिवार्यतः पूर्वनिर्णय नहीं होता था। आजकल उसे पूर्वनिर्णय माना जाता है। न्यायालयों

का उच्चतर या निचला होना इस बात पर निर्भर करता था कि एक न्यायालय की अध्यक्षता करने वाला व्यक्ति दूसरे न्यायालय के अध्यक्ष से वरिष्ठ है या कनिष्ठ। न्यायाधीश विद्वान व्यक्ति होते थे और हरेक का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता था। गांव के वृद्धजनों में मामलों को निपटाने की पूरी समझदारी होती थी और इसीलिए अधिकांश मामलों का निर्णय जाति-न्यायालयों और पंचायतों द्वारा हो जाता था। मुगल न्यायाधीश पुलिस का कार्य भी करते थे। यदि न्यायालय की सामान्य प्रक्रिया से संतोषजनक परिणाम नहीं निकलता था तो मामले का विचारण करने वाले न्यायालय का यह कर्तव्य होता था कि वह स्वयं अन्वेषण करे और विवादित मामले की सचाई का पता लगाए। यह बात आज के न्यायालयों से भिन्न है जिनका काम सिर्फ यह देखना है कि वादी अपना पक्ष साबित कर पाया है या नहीं। मुगल न्यायालय अफवाहों की न्यायिक अवेक्षा करके उनकी छानबीन कर सकते थे या किसी वाद के पक्षों से सत्य की स्वीकृति करवाने के लिए उन्हें भुलावे में डाल सकते थे।

राजधानी के न्यायालय

सम्राट का न्यायालय साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। दीवाने आला का न्यायालय और सदरूस सदर या मुख्य क़ाज़ी के न्यायालय भी थे। सदरूस सदर को, जो मुख्य क़ाज़ी के रूप में भी काम करता था, प्रांतों के क़ाज़ियों और मीर आदिलों को नियुक्त करने का अधिकार था और वे उसके आदेशों के अधीन काम करते थे।

सदरूस सदर, मुख्य सद्र और दीवाने आला बादशाह द्वारा नियुक्त किए जाते थे। कस्बों, परगनों और सरकारों में मीर आदिल नहीं होते थे क्योंकि उनमें बहुत कम वाद होते थे। दीवान का न्यायालय केवल अपील न्यायालय था।

साधारणतया राजा प्रत्येक दिन दरबार में साधारण वादों की सुनवाई करता था पर जिन महत्वपूर्ण वादों में साक्ष्य और साक्षियों, प्रतिपरीक्षा और आगे अन्वेषण तथा विचार करने की आवश्यकता होती थी, उनकी सुनवाई सप्ताह के एक नियत दिन की जाती थी। अकबर ने इसके लिए बृहस्पतिवार, जहांगीर ने मंगलवार और शाहजहां ने बुधवार नियत कर रखा था। बादशाह जब सैन्य अभियान पर, सैर सपाटे पर या विभिन्न प्रांतों के दौरे पर होता था तब भी यह व्यवस्था इसी प्रकार चलती थी।

ऐसे अवसरों पर राजा के समक्ष कितनी सरलता से पहुंचा जा सकता था इसका अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। साबरमती के किनारे पर खान-ए-खाना द्वारा बनवाए गए प्रसिद्ध उद्यान के एक माली ने बादशाह जहांगीर से सूबेदार मुक़र्रब खां के एक नौकर के विरुद्ध शिकायत की कि उसने बगीचे के चंपा के कुछ पेड़ों को काट डाला था जिनकी देखभाल वह माली करता था। मामले की जांच कराई गई, परिवाद सही पाया गया। अभियुक्त के दोनों अंगूठे काट डाले गए। मुक़र्रब को इस सारे मामले का पता भी न था। राजा को,

सिविल और दांडिक या सभी प्रकार के मामलों में आरंभिक तथा अपीली, दोनों अधिकारिताओं का प्रयोग करने की पूरी शक्तियां थीं।

क़ाज़ी-ए-अस्कर

उपर्युक्त संगठन के अलावा, बादशाह को फौज के लिए अलग से एक क़ाज़ी नियुक्त करने का अधिकार था जिसे क़ाज़ी-ए-अस्कर कहा जाता था जिसकी अधिकारिता सीमित थी। यदि कोई मामला क़ाज़ी-ए-अस्कर और नगर क़ाज़ी दोनों की अधिकारिता में आता था तो, यदि अन्यथा आदेश न दिया जाए, ऐसे मामले की सुनवाई करने का अधिकार नगर क़ाज़ी को होता था।

यदि दोनों पक्षवार सेना से हों तो भी वे अपना मामला सिविल न्यायालय में ले जा सकते थे जिसे सेना न्यायालय की तुलना में पूर्वता प्राप्त थी। वर्तमान स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है।

गांव और कस्बे (जाति न्यायालय और पंचायतें)

उपुर्यक्त के अतिरिक्त, गांवों में एक बड़ी महत्वपूर्ण संस्था पंचायत होती थी जो गांव के लोगों द्वारा प्रस्तुत सभी प्रकार के—धार्मिक, सिविल और दांडिक—मामलों का निर्णय करती थी। पंचायतें किसी क़ाज़ी, सूबेदार या जिला अधिकारी के नियंत्रण के अधीन नहीं होती थीं। पंचायत के सदस्यों का चुनाव लोग स्वयं करते थे। पंच अथवा न्यायाधीश ऐसे लोग होते थे जिन्होंने ग्राम समाज के लिए कोई उल्लेखनीय सेवा की हो। पंच का अर्थ है पांच और पंचायत की सदस्य संख्या विषम, अधिकतर पांच, हुआ करती थी जिससे निर्णय बहुमत से किया जा सके। पंचायतों को जुर्माना करने, लोकावनति, भर्त्सना अथवा जाति से बाहर करने का दंड देने की शक्ति थी परंतु वह कारावास अथवा मृत्युदंड नहीं दे सकती थी। लोकधारणा यह थी कि पंचों में सच्चा न्याय करने का दैवी गुण होता है और उनका प्राधिकार शुद्ध रूप से विधिक या प्रशासनिक न होकर होकर नैतिक अधिक था। उनके प्राधिकार के पीछे लोकमत का बल रहता था। पंचायतों द्वारा न्याय करने की व्यवस्था को भारत के आरंभिक अंग्रेज प्रशासकों ने सराहा था। भारतीय दंड संहिता, 1861 के अधिनियम से पहले इस संबंध में सर हेनरी इलियट ने ये विचार व्यक्त किए थे :

> विचारण की इस रीति का विशिष्ट मूल्य यह है कि प्रायः अनुभूति की दशा विशेष पर निर्भर करने वाली देशी रूढ़ियों की जटिल बातें, जो विदेशी होने के कारण अंग्रेज अधिकारी की पकड़ में आना कठिन हैं, पंचों के लिए सहज होती हैं और वे बहुत-सी ऐसी छोटी छोटी बातों को भी उचित महत्व दे पाते हैं जिन्हें देशी व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई नहीं समझ सकता। पुराने प्रांतों में भी, जहां विनियम प्रवर्तन में हैं, कई बार प्राचीन काल से चली आई विवाद निर्णय की इस विधि की शरण लेना

अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है और उसके परिणाम इतने संतोषप्रद होते हैं कि यह इच्छा होती है कि इस पद्धति का अनुसरण व्यापक रूप से किया जाता।

अकबर के शासनकाल में नियम यह था कि जैसे भी हो न्यायाधीशों को मामले के तथ्यों का पता लगाना चाहिए। साक्षियों के कथन ही पर्याप्त नहीं समझे जाते थे। न्यायाधीश से यह अपेक्षा थी कि वह संबंधित पक्षवारों से गहराई से पूछताछ करेंगे और कोई निर्णय देने से पहले मामले पर अच्छी तरह विचार करेंगे। निष्पक्ष न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, न्यायाधीशों को आदेश था कि वे विधि की भावना का अनुसरण करें, त्वरित न्याय दें और प्रतिकार की अपेक्षा सुधार की नीति पर चलें। अकबर का बेटा जहांगीर अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध हो गया।

गांवों में विवादों का निर्णय गांव के वृद्धजन संबंधित पक्षवारों की रूढ़ियों, चलनों और विश्वासों के आधार पर करते थे। सचाई तक पहुंचने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी क्योंकि गांव वालों को घटना की जानकारी होती थी और वे सचाई के आधार पर विवादों का निपटारा करते थे। जाति न्यायालय अपनी ही जाति के पक्षकारों के आपसी विवादों का निर्णय करते थे और उनके पीछे सामाजिक अनुशास्ति का बल था। बड़े गांवों में, जिन्हें कस्बे कहा जाता था, क़ाज़ी की नियुक्ति की जाती थी और वही न्याय प्रदान करने का काम करता था। गांवों के लोग भी अपने विवाद उस निकटस्थ कस्बे के क़ाज़ी के पास ले जा सकते थे जिसकी अधिकारिता में वे पड़ते थे। यदि क़ाज़ी नियुक्त होते थे तो भी पक्षवार व्यावसायिक श्रेणियों और सामाजिक न्यायालयों में जा सकते थे। नीति यह थी कि देश की उन प्राचीन संस्थाओं को, जो संतोषजनक ढंग से काम कर रही थीं, सरकार को प्रशासन के काम में सहयोग देने दिया जाए और उन्हें बिना सोचे-समझे नष्ट न किया जाए। दिल्ली के सुल्तानों और मुगल बादशाहों ने इनके साथ छेड़खानी करना लाभप्रद और व्यावहारिक नहीं समझा और उन्हें पहले की तरह अपना काम करने दिया। अकबर ग्राम पंचायतों को विधि द्वारा स्थापित न्यायालय के रूप में मान्यता देता था और उनके निर्णयों का मान करता था। उसने पंचायतों के कार्यकलाप को शासकीय मान्यता प्रदान की।

परगना न्यायालय

परगना न्यायालय तीन प्रकार के थे—शिक़दार, क़ाज़ी और अमीन। शिक़दार पूर्णतया लौकिक दांडिक मामलों का विचारण करता था। क़ाज़ी सिविल, दांडिक और धार्मिक मामलों की सुनवाई करता था। अमीन राजस्व से संबंधित मामलों की सुनवाई करता था। शिक़दार परगने का प्रशासनिक अध्यक्ष होता था और वह जिस सरकार की अधिकारिता में होता था, उसके फौजदार का प्रतिनिधित्व करता था। अपनी पदस्थिति के कारण उसका परगने

के राजकीय अधिकारियों पर प्रभाव होता था। क़ाज़ी को स्थानीय आवश्कताओं के अनुसार विभिन्न केंद्रों में अपने सहायक नियुक्त करने का अधिकार होता था। इन सहायकों को नायब क़ाज़ी कहते थे। नायब क़ाज़ी भी अपने अधीन उप-क़ाज़ी नियुक्त करते थे।

सत्रहवीं शताब्दी में न्यायतंत्र विकेंद्रित था ताकि न्याय तुरंत प्राप्त हो और संबंधित पक्षवारों के लिए सुविधाजनक हो। कार्य-मात्रा को ध्यान में रखते हुए, मामलों के निपटारे के लिए नायब क़ाज़ियों और उप-क़ाज़ियों की नियुक्ति की जाती थी। उपखंड मजिस्ट्रेटों, तहसीलदारों, नायब तहसीलदारों आदि की जो व्यवस्था आज विद्यमान है उसका यह पूर्व रूप था।

सरकार स्थित न्यायालय (दांडिक)

फौजदार प्रशासनिक अध्यक्ष था। अन्य महत्वपूर्ण सरकारी पदाधिकारी थे—कोतवाल, अमीन और क़ाज़ी। क़ाज़ी धार्मिक अपराधों का निर्णय करता था जबकि कोतवाल मुख्य रूप से लौकिक मामले देखता था। किंतु इस बारे में कोई कठोर नियम नहीं था। फौजदार कार्यपालक अध्यक्ष होता था इसलिए वह राजनीतिक अपराधों पर भी कार्रवाई करता था। साथ ही, उसके पास न्यायालय को शिकायत भेजने की शक्ति भी रही होगी।

अपने पुलिस के कर्तव्यों के अतिरिक्त कोतवाल को कुछ न्यायिक शक्तियां थीं। फ्रेंच यात्री टेवर्नियर बताता है कि कोतवाल का दफ्तर एक चौकी की तरह होता था जहां एक 'प्रोवोस्ट' न्याय करने के लिए बैठता था। सूबेदार और कस्बे के न्यायाधीश सिविल मामलों की सुनवाई करते थे जबकि कोतवाल दांडिक मामलों को देखता था। अकबर ने अपने शासनकाल के अठाईसवें वर्ष में, साम्राज्य के कोतवाल सहित दमित लोगों की शिकायतें सुनने और उन पर कार्रवाई करने के लिए उच्चपदस्थ चार दरबारियों की एक स्थायी न्यायिक समिति नियुक्त की थी। क़ाज़ी के कर्तव्य वे ही थे जो ऊपर बताए जा चुके हैं। अमीन से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह कोतवाल को अपने न्यायिक और पुलिस के कर्तव्यों के निर्वाह में सहायता देगा। ऐसा लगता है कि कोतवाल के साथ साथ फौजदार भी आपराधिक मामलों पर कार्रवाई करता था। सरकार का क़ाज़ी सूबे के क़ाज़ी की सिफारिश पर नियुक्त किया जाता था।

नगर और उसके निकटवर्ती उपनगरों के पुलिस विभाग का प्रभारी कोतवाल होता था जबकि फौजदार की अधिकारिता ग्रामीण क्षेत्रों पर होती थी। कोतवाल में न्यायिक शक्तियों के अतिरिक्त मुहतसिब के सभी कृत्य निहित थे। पुलिस अधिकारियों को भी दंड देने की शक्ति थी। कोतवाल को अपराधों, विशेषकर चोरी आदि के मामलों पर कार्रवाई करने की न्यायिक शक्ति थी।

प्रांतीय न्यायालय

सूबेदार, दीवान, सद्र, काजी और मीर आदिल सूबे में अपने न्यायालय लगाते थे। उनकी अधिकारिता में पूरा प्रांत आता था। प्रांतीय दीवान एक महत्वपूर्ण न्यायिक अधिकारी होता था। अपीली न्यायालय होने के साथ साथ वह न्यायिक प्रशासन पर भी दृष्टि रखता था और उन लोगों के मामलों का अन्वेषण करता था जो अभिरक्षा में होते थे।

मुहतसिब

कुरान का मुसलमानों को आदेश है कि वे अपने बीच ऐसे लोगों को जगह दें जो लोगों को सत्कर्म के लिए प्रेरित करें और उन्हें दुष्कर्मों से दूर रखें। इस्लामी राज्यों में ऐसे अधिकारी को मुहतसिब कहते थे। मुहतसिब माप-तौल में खोट, मिलावट और ऐसे देनदारों द्वारा रकम अदा करने से इंकार करने के मुकदमे विचारार्थ स्वीकार कर सकता था जो इतने साधन संपन्न थे कि वे ऋण चुका सकें। वह ऐसे वादों का निर्णय कर सकता था और उनके निष्पादन का आदेश भी दे सकता था। किंतु वह इनके अतिरिक्त किसी प्रकार के मामलों की सुनवाई नहीं कर सकता था। वह मुकदमों का निर्णय तभी कर सकता था जबकि प्रतिवादी आरोप को स्वीकार कर ले। वह उन मामलों को हाथ में नहीं ले सकता था जिनमें दावा विवादग्रस्त हो। उपर्युक्त मामलों में उसकी अधिकारिता क़ाज़ी के बराबर होती थी पर उसके कुछ अपवाद थे। वह स्वयं अन्वेषण कर सकता था चाहे मुकदमा दायर नहीं हुआ हो। जबकि क़ाज़ी को ऐसा करने का अधिकार नहीं था। मुहतसिब अपने कर्तव्यों की पूर्ति के लिए दबाव, और सख्ती वरत सकता था। मुहतसिब भर्त्सना कर सकता था किंतु वह किसी को कैद नहीं कर सकता था क्योंकि कैद करने की शक्ति क़ाज़ी को थी। मुहतसिब न्यायभंग के दोषी बेईमान लोगों की भर्त्सना कर सकता था। उसका यह उत्तरदायित्व था कि आम रास्तों पर किसी को भवन निर्माण न करने दे भले ही वह रास्ता काफी चौड़ा हो और अगर कोई ऐसा करे तो उसे गिरवा दे चाहे वह मस्जिद ही क्यों न हो क्योंकि आम रास्ता जनता के प्रयोग के लिए होता है। अबू हनीफा का यही कहना है। वह आचरणों का निरीक्षक, नगरपालिका का कार्यपालक और कुछ मामलों में दंड देने की सीमित शक्ति से संपन्न न्यायाधीश था। उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त अल मावर्द ने नीचे लिखे कुछ और कर्तव्य बताए हैं जिनसे मुहतसिब के उत्तरदायित्व का अनुमान लगाया जा सकता है :

1. यह देखना कि मुसलमान अपने धार्मिक कर्तव्य जैसे कि नमाज पढ़ना, रमजान में रोजे रखना और शराब से परहेज आदि का पालन बिना किसी भूल-चूक के कर रहे हैं;
2. यह देखना कि कोई समर्थांग व्यक्ति भीख न मांगे और यह सुनिश्चित करना

कि सड़कों पर कोई भीख न मांगे—यदि कोई भिखारी उसके आदेश को न माने तो वह उसे दंड दे सकता था;

3. चिकित्सकों और अध्यापकों के काम की देखरेख करना क्योंकि उन्हीं की योग्यता और रोगियों के प्रति समर्पण पर लोगों का स्वास्थ्य और बच्चों का प्रशिक्षण निर्भर करता है;
4. यह देखना कि मालिक लोग अपने दासों के साथ उचित व्यवहार करते हैं, क्रूरतापूर्ण नहीं;
5. इस बात पर नजर रखना कि नावें तूफान में किनारा न छोड़ें या जरूरत से ज्यादा लदी न हों।

नवनियुक्त सेंसर को अपने न्यायिक-कल्प कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिए निम्नलिखित महत्वपूर्ण अनुदेश दिए जाते थे :

1. नगरों में नशीले पेयों की बिक्री की अनुमति न दो और वेश्याओं को निवास मत करने दो क्योंकि ये बातें धार्मिक विधि के विरुद्ध हैं;
2. कुरान की आज्ञाओं का उल्लंघन करने वालों को समझाओ और चेतावनी दो;
3. बाजार में बिकने वाले माल की कीमतें तय करो और माप-तौल सही हो, यह सुनिश्चित करो;
4. बाजारों और गलियों में अगर किसी ने नियमों के विरुद्ध सड़क के किसी हिस्से पर पर्दा डाल दिया है या उसे बंद कर दिया है या सड़क पर कूड़ा-करकट फेंक दिया है तो उससे कहो कि नियमों के उल्लंघन को समाप्त करे।

पैगंबर के कानूनों को लागू कराने के मामले में सेंसर की शक्ति सर्वोपरि थी। 1672 में हुसैन अली खां के दीवान मुहम्मद ताहिर का सिर इस्लाम के पहले तीन खलीफाओं के विरुद्ध निंदात्मक शब्दों का प्रयोग करने के कारण सेंसर के कहने पर धड़ से अलग करवा दिया गया था। नैतिक नियमों पर अमल कराने का एक रोचक मामला है। एक पुर्तगाली फ्रायर (पादरी) ने जिसने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था, 1967 में अपना पुराना धर्म फिर अंगीकार कर लिया। शरीयत के मुताबिक, धर्मत्याग के लिए उसे मौत की सजा दे दी गई। सबसे उल्लेखनीय विचारण दिल्ली के प्रतिष्ठित सूफी सरमद का था। उसका दोष केवल इतना था कि वह नंगा रहता था जो कि इस्लाम के विरुद्ध है। कई यूरोपीय यात्रियों ने मुगल बादशाहों द्वारा किए गए विचारणों के रोचक वृत्तांत दिए हैं। सन् 1511 में, विलियम फिंच लिखता है :

आगरे के किले के चार द्वार हैं : पश्चिम वाले को कचहरी द्वार कहते थे जिसके अंदर बड़े दरवाजे के सामने ऊपर मुख्य न्यायाधीश क़ाज़ी का आसन है। इसके सामने कचहरी है जहां राजा का वजीर प्रातःकाल बैठता है....मंगलवार का दिन खूनी है, इस दिन

> जानवरों की लड़ाई होती है और दंडित व्यक्तियों को दंड दिया जाता है। राजा न्याय करता है और उसके सामने दंड दिया जाता है। (पर्चा IV, 72,73)

एक प्रत्यक्षदर्शी, बर्नियर वर्णन करता है कि सम्राट औरंगजेब किस तरह न्याय करता था :

> दीवाने आम में एकत्र भीड़ में याचिकाएं लेकर जितने लोग आते थे, उनकी याचिकाएं बादशाह के पास लाई जाती थीं और उसके सामने पढ़ी जाती थीं। संबंधित व्यक्ति को जब हुक्म होता था तो वह बादशाह के सामने पेश होता था। राजा स्वयं उससे प्रश्न करता था और बहुधा उसी समय व्यथित पक्षवार को अनुतोष प्रदान कर देता था।

मनुच्ची भी सम्राट द्वारा न्याय किए जाने का एक वृत्तांत देता है :

> बादशाह आमखास में दरबार लगाता है जिसमें व्यथित व्यक्ति प्रायः पेश होकर शिकायतें करते हैं। कुछ लोग हत्यारों को दंड दिए जाने की मांग करते हैं, कुछ लोग अन्याय और हिंसा की शिकायतें लेकर आते हैं...
>
> ...बादशाह आदेश देता है कि चोरों के सिर काट दिए जाएं, जिन यात्रियों का माल लूट लिया गया है, उनको सूबेदार और फौजदार प्रतिकर दें...किन्हीं मामलों में वह घोषणा करता है कि अतिक्रमियों को क्षमा नहीं किया जाएगा, कुछ अन्य मामलों में वह अन्वेषण करके उसका प्रतिवेदन करने का आदेश देता है।

न्यायाधीशों को अनुदेश

नवनियुक्त न्यायाधीश को क़ाज़ी-उल-कज्जात यह उपदेश करता था :

> न्यायप्रिय, ईमानदार और निष्पक्ष रहो। सुनवाई न्यायालय में संबंधित पक्षों के सामने, जहां सरकारी विभाग स्थित है वहां करो।
>
> किसी से उपहार मत लो।
>
> अपनी डिक्रियां, विक्रय पत्र, बंधक पत्र और दूसरे विधिक दस्तावेज बहुत सावधानी से लिखो ताकि विद्वान व्यक्ति उनमें दोष निकालकर तुम्हें लज्जित न करें।

मुगल न्याय के लक्षण

मुगल न्याय, विशेष रूप से सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में त्वरित, सस्ता और तथ्याधारित होता था। भ्रष्ट न्यायाधीशों के साथ सम्राट बड़ी कठोरता से व्यवहार करता था। निर्धन बादशाह तक सरलता से पहुंच सकते थे। यह कहा जा सकता है कि 'न्याय में विलंब करना न्याय से वंचित करना है', वाक्यांश (आज की तरह) मुगल काल की न्याय व्यवस्था पर लागू नहीं होता था क्योंकि उस समय, विदेशी यात्रियों और तत्कालीन भारतीय

इतिहासकारों की साक्षी के अनुसार भी, मुकदमों का फैसला शीघ्रतापूर्वक होता था और दिए गए दंड का निर्धारण अविलंब और यदि संभव हो तो उसी समय होता था—आज तो दंड और डिक्री के निष्पादन में बहुत लंबा समय लगता है।

यह कहा जा सकता है कि शीघ्रता से निर्णय करने के कारण अन्याय भी हो जाता होगा पर ऐसे मामले बहुत थोड़े होते थे क्योंकि न्यायाधीश विद्वान एवं निष्पक्ष व्यक्ति होते थे। यह कहा जा सकता है कि मुगल काल का न्याय आज जैसा सहज, व्यवस्थित, सोपानिक और त्रुटिहीन नहीं था, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि मुगल शासकों का न्याय करने के प्रति बड़ा आग्रह रहता था और उनकी निरंकुशता पर आयु, ईश्वर का भय, जन असंतोष और विद्रोह की आशंका का अंकुश रहता था। उस समय का न्यायतंत्र यद्यपि कुछ सीमा तक रुक्ष, अपरिष्कृत और उद्यत प्रकार का था पर वह निष्पक्ष, त्वरित और कम खर्चीला था और कई दृष्टियों से वर्तमान न्यायतंत्र से बेहतर था जो विलंब, अनिश्चितता और प्रायः भ्रष्टाचार से ग्रस्त है।

3

ब्रिटिश काल

यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी ने 17वीं शताब्दी के दौरान मुंबई, मद्रास और कलकत्ता में महत्वपूर्ण व्यापार बस्तियां स्थापित कर ली थीं पर वे मुख्यतया व्यापारी और कारखानों के स्वामी ही थे जो मुगल सम्राट की अनुमति से और उसकी आज्ञा में रहते हुए अपनी संपत्ति का स्वामित्व धारण करते थे (यह बात मुंबई के द्वीप के विषय में लागू नहीं थी जो उन्हें दहेज के रूप में दे दिया गया था और जिस पर उनकी पूर्ण संप्रभुता थी)। किंतु आरंभ से ही इन बस्तियों के अंग्रेज निवासी अपने ही अधिकारियों द्वारा प्रशासित अपनी ही विधियों के अधीन थे। महारानी एलिजाबेथ द्वारा 1601 में स्वीकृत प्रथम चार्टर द्वारा कंपनी को न केवल उपर्युक्त विधियां बनाने की शक्ति प्रदान की गई थी बल्कि उसे उन विधियों को निष्पादित और प्रशासित करने तथा उनकी अवज्ञा करने वालों को दंडित करने का प्राधिकार भी दिया गया था। 1618 में, भारत के मुगल दरबार में जेम्स I के राजदूत सर टॉमस रो ने सूरत की फैक्ट्री के संबंध में मुगल सम्राट से औपचारिक रूप से यह विशेषाधिकार प्राप्त कर लिया था कि वहां के अंग्रेज निवासी अपने विवादों को अधिनिर्णय के लिए अपने ही अधिकारियों को निर्दिष्ट कर सकते हैं। चार्ल्स II के 1661 के चार्टर द्वारा प्रत्येक फैक्ट्री के गवर्नर और परिषद को यह शक्ति प्रदान की गई कि 'वे उक्त गवर्नर और कंपनी से संबंधित सभी व्यक्तियों और उनके अधीन रहने वालों के, सिविल और दांडिक, सभी विवादों का साम्राज्य की विधि के अनुसार निर्णय करें और उन निर्णयों का तदनुसार निष्पादन करें।'

1683 के चार्टर ने कंपनी को शांति और युद्ध विषयक सभी शक्तियां प्रदान कीं। इस चार्टर में यह भी उपबंध था कि एक न्यायालय स्थापित किया जाए जिसके पीठ वहां वहां होंगे जहां कंपनी आदेश करे। 1726 में सम्राट ने लेटर्स पेटेंट द्वारा इंग्लैंड के समान मद्रास, मुंबई और फोर्ट विलियम (कलकत्ता) में मेयर के न्यायालय स्थापित किए जिनमें से प्रत्येक में एक मेयर और नौ पौर-मुख्य होते थे जिन्हें विवादी पक्षों के बीच सभी सिविल वादों, कार्रवाइयों और अभिवचनों को सुनवाई करने की शक्ति प्राप्त थी। इन्हें अभिलेख

न्यायालय घोषित किया गया जिनके निर्णयों की अपील गवर्नर और परिषद को की जा सकती थी। महत्वपूर्ण मामलों में आगे इंग्लैंड में प्रिवी काउंसिल में अपील की जा सकती थी। गवर्नर और परिषद के पांच वरिष्ठ सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे राजद्रोह को छोड़कर शेष सभी प्रकार के मामलों के विचारण के लिए हर तिमाही में सेशन लगाएं। 1753 में लेटर्स पेटेंट द्वारा तीनों प्रेसिडेंसी नगरों में से प्रत्येक में एक कोर्ट ऑफ रिक्वेस्ट (लघु वाद न्यायालयों का पूर्ववर्ती) स्थापित किया गया जो उन वादों का विनिर्धारण करता था जिनमें विवादग्रस्त राशि 20 रुपए से अधिक नहीं होती थी। इन न्यायालयों की अधिकारिता में केवल यूरोपीय लोग आते थे और यह स्पष्ट कह दिया गया था कि भारतीयों के बीच के विवादों का विनिर्धारण मेयर के न्यायालय में तब तक नहीं किया जाएगा जब तक कि विवादी पक्ष इसके लिए सहमत न हों। यह आत्यारोपित मर्यादा थी जो इस बात की द्योतक थी कि ब्रिटिश सम्राट का भारत के किसी भाग पर प्रादेशिक संप्रभुता के अधिकारों का दावा करने का कोई आशय नहीं था।

1765 से ईस्ट इंडिया कंपनी को प्रादेशिक संप्रभुता का प्रारंभ हुआ। क्लाइव, सम्राट शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात वित्तीय प्रशासन लेने में सफल हो गया। निजामत अर्थात दांडिक अधिकारिता मुर्शिदाबाद के नवाब के ही हाथ में रही जबकि कंपनी को राजस्व एकत्र करने, सेना का रख-रखाव करने और सिविल न्याय प्रदान करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। देश के भीतरी भागों की स्थिति का परिचय न होने के कारण कंपनी ने 1772 तक सिविल संस्थाओं के प्रबंध में हस्तक्षेप नहीं किया। उसने बस इतना किया कि राजस्व और न्यायिक प्रशासन के अधीक्षण के लिए, वरिष्ठ प्राधिकार प्राप्त कुछ यूरोपीय कर्मचारी नियुक्त कर दिए। इस समय सभी न्यायालयों में मुस्लिम दांडिक विधि लागू थी। प्रमुख दांडिक न्यायालय नवाब और उसके नायब और फौजदारों के थे। प्रांतों में जमींदार और किसान लोक सुरक्षा के लिए उत्तरदायी थे। अपने अपने जिलों में उन्हें सिविल और दांडिक अधिकारिता थी। मृत्यु से दंडनीय मामलों को छोड़कर, जिनकी सूचना नाजिम को देनी होती थी, शेष मामलों में उनकी सत्ता सर्वोपरि थी।

वारन हेस्टिंग्स द्वारा पुनर्गठित बंगाल की न्यायिक संस्थायें

1771 में निदेशक मंडल ने 'दीवान के रूप में अधिकार जमाने का' संकल्प किया और राजस्व तथा न्याय के प्रशासन को सीधे कंपनी के सेवकों के नियंत्रण में लाने का निर्णय लिया। अगले वर्ष वारन हेस्टिंग्स ने, जिसे बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया था, न्यायिक तथा राजस्व संस्थाओं के पुनर्गठन के लिए एक रिपोर्ट तैयार की जिसे सरकार ने तुरंत अपना लिया। इस योजना के अंतर्गत, प्रत्येक जिले में यूरोपीय राजस्व कलक्टरों के पर्यवेक्षण में 'मुफस्सिल दीवानी अदालतें' स्थापित की गईं और कलकत्ते में 'सदर दीवानी अदालत'

अथवा सिविल अपील न्यायालय की स्थापना की गई जिसकी अध्यक्षता गवर्नर तथा परिषद के सदस्य करते थे। पुरानी व्यवस्था में जमींदार और किसान अपनी संपदाओं में शांति बनाए रखने के लिए उत्तरदायी होते थे और लूट होने पर उन्हें अपराधी और लूट की संपत्ति, दोनों पेश करने पड़ते थे। हेस्टिंग्स ने फौजदारी अदालतें अर्थात दांडिक न्यायालय स्थापित किए और उन्हें वह अधिकारिता सौंप दी जो पहले जमींदारों के पास थी। "एक क़ाज़ी और एक मुफ्ती, जिनकी नियुक्ति विधि के निर्वचन के लिए की जाती थी, दो मौलवियों की सहायता से दांडिक मामलों की सुनवाई करते थे। वैसे, अंग्रेज राजस्व कलक्टरों को यह निदेश था कि वे इन न्यायालयों की कार्रवाइयों का अधीक्षण करें, यह सुनिश्चित करें कि आवश्यक साक्षियों को समन किया गया है और उनकी परीक्षा की जाती है, कि उनके साक्ष्य को उचित महत्व दिया गया है और यह कि जो निर्णय हुए हैं वे ऋजु और निष्पक्ष हैं।" प्रांतीय दांडिक न्यायालय के निर्णयों की अपील मुर्शिदाबाद में स्थापित सदर निजामत अदालत में की जा सकती थी जिसकी अध्यक्षता नवाब द्वारा नियुक्त अधिकारी करता था। प्रांतों के न्यायालय अपना प्राधिकार तथा अधिकारिता मुगल शासन से ग्रहण करते थे जिसके नाम में कंपनी दीवान के तौर पर काम करती थी। इसीलिए इन्हें कंपनी के न्यायालय कहा जाता था जबकि अंग्रेजी शाही चार्टर के अधीन स्थापित न्यायालयों को 'क्राउन कोर्ट' कहते थे।

फोर्ट विलियम, कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना

कलकत्ते के मेयर के न्यायालय और अन्य सम्राट के न्यायालयों की अधिकारिता में वे यूरोपीय लोग नहीं आते थे जो देश के भीतरी भागों में रहते थे; इन न्यायालयों का प्राधिकार कलकत्ते और उसकी आश्रित फैक्ट्रियों तक सीमित था। 1773 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने रेगुलेटिंग एक्ट पास किया जिसके द्वारा फोर्ट विलियम में एक सुप्रीम कोर्ट ऑफ जुडिकेचर की स्थापना की गई। इसमें एक मुख्य न्यायमूर्ति और तीन अन्य न्यायाधीश होते थे; ये सभी कम से कम पांच वर्ष के अनुभव वाले बैरिस्टर होते थे और इनकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। इन्हें पूर्ण सिविल, दांडिक तथा चर्च संबंधी अधिकारिता प्राप्त थी और वे सभी अंग्रेज प्रजाजनों तथा कंपनी की नौकरी में किसी स्थान पर कार्यरत व्यक्तियों पर अंग्रेजी विधि लागू कर सकते थे। इस न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील, कुछ निर्बंधनों के अधीन, प्रिवी काउंसिल में की जा सकती थी। कलकत्ते का मेयर न्यायालय तो समाप्त कर दिया गया किंतु कोर्ट ऑफ रिक्वेस्ट चलती रही। सुप्रीम कोर्ट ने भारतीय परिस्थितियों का ध्यान रखे बिना अंग्रेजी विधि के नियम और प्रक्रिया लागू करना आरंभ किया। उसने नवाब की सरकार अथवा उसके अभिकर्ताओं तथा प्रांतीय न्यायालयों को मान्यता देने से इंकार कर दिया। इंग्लैंड के सम्राट द्वारा अस्तित्व में लाए गए सुप्रीम कोर्ट और कंपनी द्वारा नियुक्त परिषद के बीच की सीमा रेखा अनिश्चित ही रही।

अस्पष्टता को दूर करने के लिए 1781 में एक संशोधक अधिनियम पारित किया गया जिसने सुप्रीम कोर्ट की शक्तियों और उसकी अधिकारिता को परिनिश्चित किया। इसमें यह उपबंध किया गया :

1. कि देश के चलन अथवा सपरिषद गवर्नर जनरल के विनियमों के अनुसार राजस्व या उसके संग्रह से संबंधित कार्यों से संबंधित मामलों में सुप्रीम कोर्ट किसी प्रकार की अधिकारिता का प्रयोग नहीं करेगा;
2. कि गवर्नर जनरल और बंगाल की परिषद अपनी लोक हैसियत में दिए गए किसी परामर्श, आदेश या किए गए कृत्य के विषय में, संयुक्त अथवा पृथक रूप से, सुप्रीम कोर्ट की अधिकारिता के अधीन नहीं होंगे;
3. कि सुप्रीम कोर्ट को कलकत्ता के निवासियों की सभी कार्रवाइयों और वादों पर अधिकारिता होगी पर विरासत, उत्तराधिकार और संविदाओं से संबंधित मामलों का अवधारण विवादी पक्षों की व्यक्तिगत विधि के अनुसार किया जाएगा, या जहां एक पक्ष मुसलमान हो एक हिंदू, वहां विवाद का अवधारण प्रतिवादी की विधियों और प्रथाओं के अनुसार किया जाएगा;
4. कि आदेशिकाओं के निष्पादन के नियमों और रूपों का समंजन भारतीयों के धर्म और रीति के साथ किया जाएगा;
5. कि देशी न्यायालयों के न्यायिक अधिकारी द्वारा दिए गए किसी निर्णय अथवा आदेश के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में कोई कार्रवाई नहीं की जा सकेगी; और यह
6. कि सुप्रीम कोर्ट से स्वाधीन, सिविल और दांडिक प्रांतीय न्यायालयों को मान्यता है; गवर्नर जनरल और काउंसिल के अपीली प्राधिकार को भी मान्यता है और उसकी पुष्टि की जाती है; और गवर्नर जनरल को सुप्रीम कोर्ट से स्वाधीन रहते हुए प्रांतीय न्यायालयों के लिए विनियम बनाने की शक्ति है।

मुंबई और मद्रास के न्यायालय

मद्रास और मुंबई में अंग्रेजी नगरपालिका के नमूने पर आधारित मेयर के कोर्ट 1797 तक बने रहे जिसके बाद उनका स्थान रिकार्डर के कोर्टों ने ले लिया। इनकी सीमाएं वही थीं जो 1781 के अधिनियम ने फोर्ट विलियम स्थित सुप्रीम कोर्ट पर लगाई थीं। इनकी अधिकारिता में मद्रास और मुंबई की सरकारों तथा उनसे मैत्री संबंध रखने वाली देशी रियासतों में निवास करने वाले अंग्रेज प्रजाजन आते थे। कोर्ट ऑफ रिक्वेस्ट 1753 के चार्टर द्वारा स्थापित किए गए। मद्रास और मुंबई के रिकार्डरों के न्यायालय के स्थान पर वहां क्रमशः 1801 और 1823 में सुप्रीम कोर्टों की स्थापना की गई। 1850 में लघु वाद न्यायालयों की स्थापना से कोर्ट ऑफ रिक्वेस्ट भी अधिक्रमित हो गए।

प्रांतीय सिविल न्यायालय

कलकत्ते में स्थापित मुख्य सिविल न्यायालय प्रांतीय न्यायालय के निर्णयों की अपीलें सुनती थी, और राजस्व बोर्ड में मूलतया गवर्नर जनरल और परिषद ही होते थे। 1801 के एक विनियम से इसमें तीन न्यायाधीशों का उपबंध किया गया जिनका चुनाव प्रसंविदाबद्ध सेवा के सदस्यों में से किया जाना था। 1811 में एक मुख्य न्यायाधीश और उतने अवर न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई जितने सपरिषद गर्वनर जनरल आवश्यक समझे। इन विनियमों के परिणामस्वरूप राज्य की न्यायपालिका उसकी कार्यपालिका तथा विधायिका से पृथक हो गई। इसके साथ ही सिविल वादों की आरंभिक सुनवाई के लिए जिला और नगर न्यायालय तथा उनके निर्णयों की अपीलें सुनने के लिए छह प्रांतीय न्यायालय स्थापित किए गए; उनकी अधिकारिताएं परिभाषित की गईं और न्यायाधीशों को यह निदेश दिया गया कि जहां विनिर्दिष्ट नियम विद्यमान न हों, वहां वे न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण का अनुसरण करते हुए अपना कार्य करें। उस समय पांच श्रेणी के प्रांतीय सिविल न्यायालय विद्यमान थे :

1. सबसे निचला दर्जा कमिश्नरों के न्यायालय थे जिन्हें सदर अमीन और मुंसिफ कहते थे। इन्हें 1793 के विनियम के अंतर्गत 50 रु. मूल्य तक के सिविल वादों का निर्णय करने की शक्ति थी;
2. रजिस्टर न्यायालय जिन्हें न्यायाधीश द्वारा प्राधिकृत किए जाने पर 200 रु. तक के वादों का निर्णय करने का अधिकार था। उनकी डिक्री तभी विधिमान्य होती थी जब न्यायाधीश उनका पुनरीक्षण करके उन्हें प्रतिहस्ताक्षरित कर देता था;
3. सिविल न्यायालय या नगर और जिला न्यायालय;
4. प्रांतीय न्यायालय जो उपर्युक्त तृतीय श्रेणी के न्यायालयों के निर्णयों की अपील सुनते थे;
5. मुख्य सिविल न्यायालय जिसमें अपीली अधिकारिता निहित थी और जिसे 100 रु. से अधिक मूल्य के सभी वादों में अवर न्यायालयों के पर्यवेक्षण की सामान्य शक्ति थी।

1831 के विनियम V के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। रजिस्टर न्यायालय और प्रांतीय अपील न्यायालय समाप्त कर दिए गए। मुंसिफ न्यायालयों को 300 रु. तक के मूल्य के वादों के विचारण की शक्ति प्रदान की गई और सदर अमीन को न्यायाधीश ऐसे मामले भेज सकते थे जिनका मूल्य 5000 रु. से अधिक न हो। 5000 रु. से अधिक मूल्य के सभी वादों की आरंभिक अधिकारिता न्यायाधीशों को प्रदान की गई जिनकी अपील सीधे मुख्य सिविल न्यायालय में की जा सकती थी।

लार्ड कार्नवालिस द्वारा बंगाल में स्थापित सिविल न्यायालयों की प्रणाली मद्रास प्रेसिडेंसी में 1802 में अपना ली गई। राजस्व और दीवानी न्यायालय अलग रखे गए। बंगाल की ही तरह मद्रास की न्यायपालिका में रजिस्टर न्यायालय, दीवानी अदालतें, प्रांतीय अपील न्यायालय और सपरिषद गवर्नर का मुख्य न्यायालय सम्मिलित थे। यदि वाद का मूल्य 45,000 रु. या उससे अधिक होता तो सपरिषद गवर्नर जनरल के समक्ष एक अपील और की जा सकती थी। 1807 के विनियम III द्वारा गवर्नर न्यायाधीश न रहा। 1826 में गांवों के मुखिया मुंसिफ नियुक्त किए गए और उन्हें 10 रु. तक के वादों के विचारण की शक्ति प्रदान की गई। ग्राम पंचायतें भी अपने गांवों की अधिकारिता के भीतर किसी भी मूल्य के वादों का अवधारण कर सकती थीं। 1843 में प्रांतीय अपील न्यायालय समाप्त कर दिए गए और नए जिला न्यायालयों की स्थापना की गई।

मुंबई में भी 1793 के बंगाल विनियम के समान सिविल न्यायालय स्थापित किए गए। 1845 में संयुक्त जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति को प्राधिकृत किया गया।

प्रांतीय दांडिक न्यायालय

आपराधिक न्याय के प्रशासन के संबंध में वारन हेस्टिंग्स द्वारा अपनाई गई योजना यह थी कि मुस्लिम विधि और अधिकरणों को नवाब के सामान्य नियंत्रण में, किंतु कंपनी सरकार के पर्यवेक्षण के अधीन, बनाए रखा जाए। यह प्रणाली संतोषजनक ढंग से नहीं चल पाई। अपराधियों को दंडित करने में जो विलंब होता था, उसके फलस्वरूप अपराध बढ़ने लगे। दांडिक न्यायालय का गठन भी दोषपूर्ण था। लार्ड कार्नवालिस ने 1790 और 1793 के विनियमों द्वारा न्यायिक प्रणाली को नया रूप प्रदान किया। अंग्रेज न्यायाधीशों, काजी और मुफ्ती के सर्किट न्यायालय स्थापित किए गए। नवाब नाजिम का प्राधिकार समाप्त कर दिया गया और उसकी शक्तियां सपरिषद गवर्नर जनरल को अंतरित कर दी गई जो उच्चतम प्रांतीय दांडिक न्यायालय अर्थात सदर निजामत अदालत के रूप में कार्य करते थे। 1801 के विनियम 2 द्वारा यह निर्देश दिया गया कि सदर निजामत अदालत में सपिरषद गवर्नर जनरल के स्थान पर एक मुख्य न्यायाधीश और अवर न्यायाधीश रहेंगे और 1811 के विनियम 12 द्वारा इन न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। सर्किट न्यायालय तत्परता के साथ न्याय देने में असफल रहे और परिणामतः 1829 में इन्हें समाप्त कर दिया गया। इनकी शक्तियां राजस्व आयुक्तों को स्थानांतरित कर दी गईं जो अब सभी महत्वपूर्ण मामलों में दांडिक न्यायाधीश बन गए। उनके लिए यह कार्यभार बहुत अधिक सिद्ध हुआ इसलिए 1831 के एक विनियम द्वारा जिला और नगर न्यायाधीशों को दांडिक अधिकारिता दे दी गई। बंगाल सेशन न्यायालय अधिनियम 1871 में पास किया गया जिसमें बंगाल और उत्तर-पश्चिमी प्रांतों की स्थानीय सरकारों द्वारा सेशन न्यायाधीशों और अतिरिक्त

सेशन न्यायाधीशों की नियुक्ति का उपबंध था। यह अधिनियम एक अस्थायी अध्युपाय था और इसे 1872 में निरस्त कर दिया गया।

बंगाल में जिस प्रकार की न्यायिक संस्थाएं स्थापित थीं, वैसी ही मद्रास प्रेसिडेंसी में 1802 में प्रारंभ की गईं। चार सर्किट न्यायालय और एक दांडिक अपील न्यायालय, जो गवर्नर और परिषद से मिलकर बना था, स्थापित किए गए। सर्किट न्यायालय 1845 में समाप्त कर दिए गए और उनकी अधिकारिता जिला न्यायालयों के न्यायाधीशों को हस्तांतरित कर दी गई।

मुंबई में, मजिस्ट्रेट, जिला न्यायाधीश और सर्किट न्यायालय को दांडिक अधिकारिता थी। एक विशेष न्यायालय राजनीतिक अपराधों के विचारण के लिए भी था। हिंदुओं के मामलों का विचारण उनकी अपनी दांडिक विधि के अनुसार होता था और पारसियों तथा ईसाइयों का अंग्रेजी विधि के अनुसार। 1841 में यह अधिनियमित हुआ कि राजनीतिक अपराध साधारण न्यायालयों द्वारा संज्ञेय होने चाहिए।

प्रिवी काउंसिल : अपीली अधिकारिता और गठन

1833 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक अधिनियम पारित किया जिसके द्वारा अपीली न्यायालय के रूप में प्रिवी काउंसिल के गठन का निश्चय किया गया। सबसे पहले क्राउन चार्टर द्वारा 1726 में स्थापित मेयर के न्यायालयों के निर्णयों के संबंध में सपरिषद राजा को अपील करने का अधिकार दिया गया। यह अधिकार फोर्ट विलियम स्थित सुप्रीम कोर्ट और मद्रास तथा मुंबई की रिकार्डरों की कोर्टों (जो बाद में सुप्रीम कोर्ट कहलाईं) के संबंध में भी दियां गया। 1781 में बंगाल के मुख्य सिविल न्यायालय के निर्णयों की अपील करने के अधिकार को भी मान्यता प्रदान की गई और 1797 के विनियम 16 ने इस अधिकार को निर्णय की तारीख के छह महीने के अंदर प्रयोग किए जाने तक सीमित कर दिया। साथ ही यह भी उपबंध किया गया कि अपील का अधिकार तभी होगा जबकि, खर्च के अतिरिक्त, वाद का मूल्य 50,000 रु. से कम न हो। 1818 में अपील का अधिकार मद्रास और मुंबई के मुख्य न्यायालयों के निर्णयों के संबंध में भी प्रदान किया गया। 1838 में जारी किए गए परिषद के एक आदेश से अपील के अधिकार को 50,000 रु. से घटाकर 10,000 रु. के वाद मूल्य के लिए मान्य कर दिया गया। यह उपबंध बाद के वर्षों में उच्च न्यायालयों के चार्टरों के लिए भी बना रहा। 1833 के मूल गठन के अनुसार प्रिवी काउंसिल की न्यायिक समिति में लार्ड प्रेसिडेंट, लार्ड चांसलर और ऐसे काउंसलर रहते थे जो उच्च न्यायिक पदों पर आसीन हों अथवा आसीन रह चुके हों। न्यायिक समिति अधिनियम 1871 द्वारा इसमें चार सवेतन सदस्य और जोड़ दिए गए जिनका स्थान बाद में अपीली अधिकारिता अधिनियम 1876 के उपबंधों के अंतर्गत चार 'लार्ड्स ऑफ अपील इन

आर्डिनरी' ने ले लिया। 1883 के अधिनियम में कोरम चार सदस्यों का रखा गया था किंतु इसके बाद के अधिनियम ने इसे घटाकर तीन सदस्यों का कर दिया।

न्यायालयों की दो समानांतर प्रणालियां

1861 तक ब्रिटिश भारत में न्यायिक संस्थाओं की दो पूर्णतया असमान मूल की समानांतर प्रणालियां विद्यमान थीं—एक प्रेसिडेंसी नगरों में जिनमें रॉयल चार्टरों और संसद के अधिनियमों से क्राउन न्यायालय स्थापित किए गए थे और दूसरी मुफस्सिल में जहां कंपनी ने देशी सरकारों से प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्यायालय स्थापित किए थे। 1834 तक पहली प्रणाली के न्यायालय केवल ब्रिटिश पार्लियामेंट की विधायी सत्ता और भारत सरकार के उन विनियमों से बंधे थे जिन्हें सुप्रीम कोर्ट अभिस्वीकार तथा रजिस्टर करती थीं। मुफस्सिल न्यायालय भारतीय विधान द्वारा यथासंशोधित एवं अनुपूरित हिंदू और इस्लामी विधि लागू करते थे और सामान्यतया, यूरोपीय लोगों के ऊपर उनकी कोई अधिकारिता नहीं होती थी। क्राउन, न्यायालय प्रक्रिया की अंग्रेजी विधि का अनुसरण करते थे और हिंदुओं या मुसलमानों के विरुद्ध लाए गए कतिपय श्रेणियों के सिविल वादों को छोड़कर, अधिकांशतः अंग्रेजी विधि को लागू करते थे।

अधिकारिता की समानांतर प्रणाली को समाप्त करने के लिए उठाए गए कदम

उपर्युक्त दो प्रणालियों के बीच की खाई को समाप्त करने के लिए पहला प्रयास 1813 में किया गया जब पार्लियामेंट के एक अधिनियम द्वारा भारतीयों द्वारा यूरोपीय लोगों के विरुद्ध लाए गए वादों में कंपनी के न्यायालयों को सिविल अधिकारिता दी गई। लेकिन यूरोपीयों के विशेषाधिकार को केवल आंशिक रूप से छीना गया था क्योंकि उन्हें सुप्रीम कोर्ट में अपील कर सकने का विशिष्ट अधिकार दिया गया जबकि सामान्य प्रक्रम में मुख्य न्यायालय में अपील होती थी। 1836 के अधिनियम 11 द्वारा, जिसे सामान्यतया काला कानून कहा जाता है, यह विभेदकारी अधिकार भी छीन लिया गया। 1813 तक भारत में निवास करने वाले यूरोपीय लोग केवल प्रेसिडेंसी नगरों के क्राउन न्यायालयों की आपराधिक अधिकारिता के अधीन थे। उस वर्ष के अधिनियम (53 जार्ज 3, अध्याय 155) द्वारा प्रांतों के मजिस्ट्रेटों को प्रेसडिंसी नगरों के बाद कतिपय आपराधिक मामलों में यूरोपीय अंग्रेज प्रजाजनों के ऊपर अधिकारिता मिल गई और उन्हें जस्टिसेज ऑफ पीस के रूप में कार्य करने की शक्ति दी गई। उत्तरवर्ती विधान द्वारा इस प्राधिकार का क्रमशः विस्तार किया गया।

समामेलन की दिशा में दूसरा कदम देश भर में एक समान विधि प्रणाली स्थापित करना था। इस काल में किए गए महत्वपूर्ण सुधारों में से एक, विधि का संहिताकरण और सरलीकरण था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने शुरुआत भारतीयों को भारतीय विधि से और अंग्रेजों

को अंग्रेजी विधि से शासित करने से की किंतु यह प्रणाली तीन कारणों से चल नहीं सकी। पहली बात तो यह थी कि भारतीय विधि की सही प्रकृति ज्ञात करना कठिन था। दूसरे, यदि उसे ज्ञात किया भी जा सकता था तो उसमें अंग्रेजी विधिक प्रणाली के आधारभूत विचारों और परंपराओं के विरुद्ध नियम समाविष्ट थे। तीसरे, भारतीय विधि में कमियां थीं;संविदा, अपकृत्य, न्यास आदि विधि की बड़ी और महत्वपूर्ण शाखाओं के लिए भारतीय विधि अपर्याप्त अथवा शून्य मार्गदर्शन प्रदान करती थी। इसलिए प्रारंभ से ही देश में भारतीय विधि को संशोधित और अनुसूचित करने वाली प्रचुर आंग्ल-भारतीय निर्णयज विधि और विधान मंडलों के बनाए हुए विनियम विकसित होने लगे। अनेक आरंभिक विनियमों का उद्देश्य मुस्लिम दांडिक विधि के दोषों को दूर करना था। बंगाल सरकार ने 1780 में न्याय प्रशासन के लिए विनियमों की एक संहिता जारी की और उसके अगले वर्ष एक पुनरीक्षित संहिता निकाली गई। वारन हेस्टिंग्स की 1772 की योजना को, जिसको यह निदेश था कि विवाह, उत्तराधिकार आदि से संबंधित सिविल वादों में न्यायालय को विवादी पक्षों की व्यक्तिगत विधि का अनुसरण करना चाहिए, 1781 के संशोधक अधिनियम द्वारा मान्यता प्रदान की गई और उसकी पुष्टि की गई। 1832 के बंगाल के एक विनियम में यह उपबंध किया गया कि यदि किसी सिविल वाद के पक्षों के धर्म अलग अलग हों तो उनके धर्म की विधि को उस पक्ष अथवा पक्षों को किसी संपत्ति से वंचित करने की अनुमति नहीं दी जाएगी जिस संपत्ति के वे हकदार होते यदि वह विधि प्रचलन में न होती। बंगाल के इस विनियम के सिद्धांत को स्थानीय विधि अधिनियम, 1850 द्वारा समस्त ब्रिटिश भारत पर विस्तारित कर दिया गया। इसमें यह घोषणा की गई कि किसी व्यक्ति के अधिकार, संपत्ति या विरासत मात्र इस कारण से कि वह अपने धर्म या जाति से बाहर कर दिया गया है, जब्त नहीं किए जा सकेंगे। बंबई के विनियम सिविल अधिकारों के अवधारण में लिखित हिंदू या मुस्लिम विधि पर स्थानीय प्रथा को प्राथमिकता देते थे। यही सिद्धांत आगे चलकर पंजाब विधि अधिनियम, 1872 द्वारा पंजाब में लागू किया गया। 1833 में ब्रिटिश पार्लियामेंट का ध्यान ब्रिटिश भारत में विधि की दुर्वह, अस्पष्ट और दुर्बोध स्थिति की ओर आकर्षित किया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम ने गवर्नर जनरल को निदेश दिया कि वह ब्रिटिश भारत में विधि की स्थिति और न्याय के प्रशासन की जांच करके रिपोर्ट देने के लिए एक भारतीय विधि आयोग नियुक्त करे। 1834 के भारतीय विधि आयोग के कार्य का भार मुख्यतया लार्ड मैकाले पर पड़ा और इसने सबसे पहले दंड विधि संहिता बनाने का काम हाथ में लिया। इसका प्रारूप 1838 में पूरा हो गया था पर इसने अधिनियम का रूप 1860 में ही लिया। दो और आयोग नियुक्त किए गए—एक 1853 में और दूसरा 1861 में—जिनके परिश्रम के फलस्वरूप अधिष्ठायी तथा प्रक्रिया संबंधी विधि की कई संहिताएं तैयार हुईं जो कालांतर में अधिनियम बन गईं और वे पूरे ब्रिटिश

भारत के सभी न्यायालयों और व्यक्तियों पर लागू की गई। ये जिन विषयों से संबंधित थीं उनमें इन्होंने देशी भारतीय विधि को अधिक्रमित कर दिया। सिविल प्रक्रिया संहिता का पहला संस्करण 1859 में पारित किया गया जिसके बाद दंड प्रक्रिया संहिता 1861 में पारित की गई। इनकी अनुपूर्ति भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1865, हिंदू वसीयत अधिनियम 1870, साक्ष्य तथा संविदा के अधिनियम 1872, विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम 1877, पराक्रम्य लिखत अधिनियम 1881, संपत्ति अंतरण अधिनियम 1882 और भारतीय न्यास अधिनियम 1882, परिसीमन अधिनियम 1908, आदि के द्वारा हुई। विशेष रूप से, भारत की पूरी आपराधिक विधि को संहिताबद्ध किया गया लेकिन सिविल विधियों का संहिताकरण पूरा होने में कमी शेष रही। हिंदू और मुस्लिम विधि के संहिताकरण में तीन कठिनाइयां बाधक थीं। पहली कठिनाई तो यह थी कि इन विधियों का काफी बड़ा अंश दैवी उद्भव का माना जाता था और उनमें विधायी हस्तक्षेप राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक समझा जाता था। दूसरी कठिनाई यह थी कि संहिताकरण नियमों को रूढ़ कर देता जो कि सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों के अव्यक्त प्रभाव के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया में थे। तीसरी कठिनाई थी कि हिंदू विधि का कोई एक ऐसा रूप नहीं था जो सभी को मान्य हो। यह भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न था, और प्रायः स्थानीय अथवा कौटुंबिक रूढ़ियां इसे उपांतरित कर देती थीं।

भारत में उच्च न्यायालयों का जन्म

एकरूपता की दिशा में तीसरा पग था सुप्रीम और सदर न्यायालयों को समाप्त करना और उनके स्थान पर, प्रत्येक प्रेसिडेंसी में, केवल एक अपील न्यायालय का गठन करना जिसका प्रेसिडेंसी नगरों और मुफस्सिलों, दोनों के सभी न्यायालयों पर नियंत्रण था। यह काम भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम 1861 द्वारा किया गया था जिसने सम्राट को, लेटर्स पेटेंट के द्वारा, मद्रास, मुंबई और फोर्ट विलियम (कलकत्ता) में तीन उच्च न्यायालय स्थापित करने की शक्ति प्रदान की। चार्टरित सुप्रीम कोर्टों, मुख्य सिविल और निजामत न्यायालयों की अधिकारिता और शक्तियां उच्च न्यायालय को हस्तांतरित कर दी गईं। इनमें से प्रत्येक न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और अधिक से अधिक पंद्रह न्यायाधीश नियुक्त किए जाने थे। इनमें से, मुख्य न्यायाधीश सहित, कम से कम एक तिहाई बैरिस्टर होने आवश्यक थे और कम से कम एक तिहाई भारतीय सिविल सेवा के सदस्य। एक चौथा उच्च न्यायालय स्थापित करने की शक्ति भी प्रदान की गई जिसका प्रयोग 1866 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की स्थापना के लिए किया गया। इंपीरियल लेजिसलेटिव काउंसिल द्वारा उसी वर्ष पारित एक अधिनियम से, उच्च न्यायालयों के ही समान, पंजाब में एक मुख्य न्यायालय स्थापित किया गया जिसमें सपरिषद गवर्नर जनरल द्वारा दो या अधिक न्यायाधीश नियुक्त

किए जाने थे। इनमें उच्चतम अपीली शक्तियां निहित की गईं और कतिपय सिविल तथा दांडिक मामलों में आरंभिक अधिकारिता प्रदान की गई।

दंड प्रक्रिया संहिता 1872 के अंतर्गत दांडिक न्यायालयों का पुनर्गठन

इस विषय से संबंधित सभी अधिनियमों को निरस्त करते हुए 1872 में एक नई दंड प्रक्रिया संहिता अधिनियमित की गई। यह अधिनियमित किया गया कि उच्च न्यायालय, पंजाब के मुख्य न्यायालय और जहां विनियम लागू नहीं होते थे उन प्रांतों के न्यायिक आयुक्तों के न्यायालयों के अतिरिक्त, ब्रिटिश भारत में दांडिक न्यायालयों की चार श्रेणियां होनी चाहिए। ये थीं, सेशन न्यायालय, प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट का न्यायालय, द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट का न्यायालय और तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट का न्यायालय। प्रत्येक प्रांत को सेशन खंडों में बांटा जाना था और प्रत्येक ऐसे खंड में एक सेशन न्यायालय और एक सेशन न्यायाधीश की नियुक्ति की जानी थी। स्थानीय सरकार को अतिरिक्त तथा संयुक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति थी जो न्यायालय की सभी शक्तियों का प्रयोग कर सकते थे। किंतु वे केवल उन्हीं मामलों का विचारण कर सकते थे जो स्थानीय सरकार उन्हें निदेशित करे या जो सेशन न्यायाधीश उन्हें विचारण के लिए सौंपे। मजिस्ट्रेटों की तीन श्रेणियों के बीच भेद उनके द्वारा दिए जा सकने वाले दंड की मात्रा पर आधारित था। प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट दो वर्ष तक के कारावास का दंड और 1000 रु. तक का जुर्माना कर सकता था। द्वितीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट छह महीने तक के कारावास का दंड दे सकता था और 200 रु. तक का जुर्माना कर सकता था। इन दोनों श्रेणियों के मजिस्ट्रेट कोड़े लगाने के आदेश दे सकते थे अथवा कारावास में एकांत कारावास का दंड भी सम्मिलित कर सकते थे, किंतु तृतीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट ऐसा आदेश नहीं दे सकता था। तीनों श्रेणियों के मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति स्थानीय सरकार द्वारा की जानी थी और इन्हें जिला मजिस्ट्रेट के अधीन काम करना था। स्थानीय सरकार किसी जिले को खंडों में बांट सकती थी और प्रत्येक ऐसे खंड को प्रथम या द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट के प्रभार में दे सकती थी। प्रभागीय मजिस्ट्रेट को जिला मजिस्ट्रेट के नियंत्रण में रहकर काम करना था और स्वयं उसे अपने खंड के मजिस्ट्रेटों पर नियंत्रण रखना था। विनियम रहित प्रांतों में स्थानीय सरकार को यह शक्ति दी गई कि वह डिप्टी कमिश्नर या जिले के अन्य मुख्य कार्यपालक अधिकारी को मजिस्ट्रेट के रूप में उन सभी अपराधों के विचारण की शक्ति प्रदान करे जिनके लिए मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता और वह अधिक से अधिक सात वर्ष के कारावास की सजा दे सके। स्थानीय सरकार को किसी जिले में ऐसे विशेष मजिस्ट्रेट या मजिस्ट्रेटों की पीठ नियुक्त करने का प्राधिकार भी दिया गया जिनके पास प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट की शक्तियां होंगी।

आपराधिक न्याय के प्रशासन के कतिपय उल्लेखनीय लक्षण

देश में स्थापित आपराधिक न्याय के प्रशासन के कुछ मुख्य लक्षण इस प्रकार थे :

1. न्यायिक तथा कार्यपालक कार्यों का संयोजन अर्थात न्यायाधीश और अभियोजक के कार्य एक ही अधिकारी करता था;
2. यूरोपीय अंग्रेज प्रजाजनों के साथ किया जाने वाला विभेदकारी व्यवहार तथा साधारण न्यायालयों की अधिकारिता से उनकी आंशिक उन्मुक्ति;
3. जूरी द्वारा विचारण की प्रणाली का सामान्यतया अभाव;
4. विशेष रूप से, राज्य के विरुद्ध किए गए अपराधों के विचारण के लिए कार्यपालक सरकार को ऐसे विशेष अधिकरण स्थापित करने का अधिकार देने वाली विधि का विद्यमान होना जिनकी प्रक्रिया और साक्ष्य के नियम विशेष होते हैं;
5. अधीनस्थ न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति, पदोन्नति आदि पर कार्यपालिका का पूर्ण नियंत्रण;
6. बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका के अधिकार का सीमन। दंड प्रक्रिया ने इस अधिकार को फोर्ट विलियम, मद्रास और मुंबई के उच्च न्यायालयों की साधारण आरंभिक अधिकारिता की सीमाओं तक प्रतिबंधित कर दिया और बंगाल राज बंदी अधिनियम, 1818, 1819 का मद्रास विनियम 2, 1827 का मुंबई विनियम 25, राज बंदी अधिनियम 1850 या राज बंदी अधिनियम 1858 के अधीन निरुद्ध व्यक्तियों के लाभार्थ रिट जारी करने की विशेष रूप से वर्जना कर दी;
7. देश के सर्वोच्च अधिकरणों अर्थात उच्च न्यायालयों तक में विधिवादिता और न्यायिक स्वतंत्रता का अभाव, जो कई प्रकार की परिस्थितियों का परिणाम था जैसे कि यह उपबंध कि न्यायाधीश सम्राट के प्रसाद पर्यंत अपना पद धारण करेंगे जबकि इंग्लैंड में वे पार्लियामेंट के दोनों सदनों के संकल्प पर ही हटाए जा सकते थे; न्यायाधीशों की नियुक्ति में स्थानीय सरकारों को महत्वपूर्ण भूमिका देना; तथा इस सांविधिक उपबंध का होना कि न्यायाधीशों में से कम से कम एक तिहाई भारतीय सिविल सेवा के सदस्य होंगे;
8. गवर्नर जनरल, गवर्नरों और उनकी कार्य परिषदों के सदस्यों को उनके द्वारा लोक हैसियत में किए गए कृत्यों के लिए या राजद्रोह अथवा महापराध को छोड़कर अन्य किसी अपराध के लिए उच्च न्यायालयों की आरंभिक अधिकारिता से छूट;
9. सपरिषद गवर्नर जनरल का लिखित आदेश जो अपनी आरंभिक अधिकारिता

का प्रयोग करते हुए किसी उच्च न्यायालय के समक्ष चल रही किसी कार्रवाई में किसी कृत्य के पूर्ण औचित्य का अभिवचन करने वाला बन सकता था। यह आदेश किसी यूरोपीय अंग्रेज प्रजाजन के लिए लागू नहीं होता था।

भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, 1911

1911 में ब्रिटिश भारत के केवल चार प्रांतों के अपने उच्च न्यायालय थे। बंगाल, मद्रास और मुंबई में उच्च न्यायालय स्थापित करने के चार्टर 1862 में जारी किए गए थे और इलाहाबाद में उच्च न्यायालय की स्थापना के लिए एक अन्य चार्टर 1865 में जारी किया गया था। इनके लेटर्स पेटेंट सभी महत्वपूर्ण बातों में एक जैसे थे। किंतु इलाहाबाद उच्च न्यायालय को कोई आरंभिक अधिकारिता नहीं थी। आरंभिक अधिकारिता केवल यूरोपीय अंग्रेज प्रजाजनों के विरुद्ध आपराधिक कार्रवाइयों के लिए ही थी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के नमूने पर एक मुख्य न्यायालय पंजाब के लिए 1866 में स्थापित किया गया था किंतु इसको प्राधिकार भारतीय विधानमंडल से प्राप्त होता था और उसके न्यायाधीशों की नियुक्ति सपरिषद गवर्नर जनरल करता था। प्रेसिडेंसी उच्च न्यायालयों के प्रतिदर्श पर एक उच्च न्यायालय निचले बर्मा के लिए रंगून में स्थापित किया गया जिसे रंगून के लिए आरंभिक सिविल और दांडिक अधिकारिता थी। शेष सभी प्रांतों में सर्वोच्च अधिकरण न्यायिक आयुक्त था जिसकी नियुक्ति भारत सरकार करती थी। भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम में यह उपबंध था कि यदि आवश्यक हो तो, ब्रिटिश भारत के किसी भाग के लिए अतिरिक्त उच्च न्यायालय स्थापित किए जा सकते हैं। साथ ही, इसने न्यायाधीशों की संख्या 16 से बढ़ाकर 20 कर दी। सपरिषद गवर्नर जनरल द्वारा अस्थायी अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति किए जा सकने की भी व्यवस्था की गई थी। इस अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक उच्च न्यायालय पटना में 1915 में तथा एक उच्च न्यायालय लाहौर में 1919 में स्थापित किया गया।

न्यायिक तथा कार्यपालक कार्यों के पृथक्करण के लिए आंदोलन

अंग्रेजों द्वारा लागू किया गया विधि तंत्र सैद्धांतिक औचित्य पर कम और स्थानीय परिस्थितियों तथा स्वभाव के प्रति अनुकूलता पर अधिक आधारित था। यह निश्चित रूप से अपूर्ण था और राष्ट्रीय चेतना के जागरण के साथ ही इसके अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट दोषों को दूर करने की मांग निरंतर की गई। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद से किसी अन्य विषय ने इतना आम समर्थन और सतत ध्यान आकर्षित नहीं किया जितना कि कार्यपालक और न्यायिक कार्यों के पृथक्करण के प्रश्न ने। इसकी परिणति 1899 में हुई जब सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया को संबोधित एक अभ्यावेदन में

दस उच्च न्यायिक अधिकारी विद्वानों ने आठ आक्षेप सामने रखे जिनका सार इस प्रकार है:

1. एक ही अधिकारी को कार्यपालक के साथ साथ न्यायिक कार्य भी देना साम्या के प्राथमिक सिद्धांतों का उल्लंघन है;
2. जहां न्यायिक प्राधिकारी को पूर्णतया निष्पक्ष होना चाहिए और उसे किसी मामले पर विचार आरंभ करते समय तथ्यों का पूर्वज्ञान नहीं होना चाहिए, वहां कार्यपालक अधिकारी तब तक अपने कर्तव्यों का समुचित ढंग से निर्वाह नहीं कर सकता जब तक कि वह उन सभी सूचनाओं और जानकारियों को कान न दे जिन्हें वह जिले के हित के लिए काम में ला सकता है;
3. भारत के कार्यपालक अधिकारियों को, जो अनेक प्रकार के विविध कामों के लिए उत्तरदायी होते हैं, इतना समय नहीं होता कि वे अपने वर्तमान काम के अतिरिक्त न्यायिक कार्य भी संतोषजनक ढंग से निपटा सकें;
4. विशिष्ट कार्यपालक अध्युपाय में गहरी रुचि होने के कारण, कार्यपालक अधिकारियों की व्यक्तियों के साथ टकराव होने की संभावना रहती है, अतः यह समीचीन नहीं है कि उन्हें न्यायिक शक्तियां भी सौंप दी जाएं;
5. वर्तमान व्यवस्था में कलक्टर मजिस्ट्रेट वस्तुतया कार्यपालक कामों के लिए न्यायिक काम की उपेक्षा कर देते हैं;
6. राजस्व निर्धारणों की अपीलें करने का कोई लाभ ही नहीं है यदि उनकी सुनवाई राजस्व अधिकारियों को करनी है;
7. जब कोई न्यायिक अधिकारी अपने कार्यपालक कर्तव्यों के निर्वाह के लिए अपने जिले के दौरे पर होता है तो उसके कैंप का अनुवर्तन करने में वादियों को भारी असुविधा, खर्च और कष्ट उठाना पड़ता है; और
8. वर्तमान व्यवस्था न केवल इससे सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए कष्टदायक और असुविधाजनक है अपितु न्यायिक अधिकरणों को पुलिस और गुप्तचरों के काम से संबद्ध करके और साक्ष्य के नियमों द्वारा दिए गए रक्षोपायों को कम करके यह सचमुच न्याय का हनन करती है और न्याय हो जाने की स्थिति में भी, संदेह, अविश्वास और असंतोष के लिए अवसर उत्पन्न करती है जो अत्यंत निंदनीय है।

सरकार ने तत्कालीन व्यवस्था का समर्थन इन आधारों पर किया कि प्राधिकार का संकेंद्रण प्रशासन के प्राच्य दृष्टिकोण के अनुरूप है, कि यह किफायती है और यह कि उपर्युक्त पृथक्करण से सर्वत्र कलक्टर की स्थिति शिथिल होगी और परिणामतया ब्रिटिश राज की भी।

4

परिसंघ न्यायालय

भारत शासन अधिनियम 1935 के प्रवर्तन में आने के साथ भारत में प्रांतीय स्वायत्तता की स्थापना हुई। इस अधिनियम ने प्रांतीय स्तर पर उत्तरदायित्व की शुरुआत की और इसका उद्देश्य रियासतों के शासकों के साथ ब्रिटिश भारत के प्रांतों का एक परिसंघ बनाना था। अपने वास्तविक प्रचालन में, परिसंघीय प्रणाली बड़ी सीमा तक सरकारों के बीच, सरकार तथा जनता के बीच और व्यक्तियों के बीच विधि के न्यायोचित एवं समर्थ प्रशासन पर निर्भर करती है। इस प्रयोजन से, 1935 के अधिनियम ने परिसंघ न्यायालय की स्थापना का उपबंध किया जो कि भारत के उच्चतम न्यायालय का पूर्व रूप था। यह भारत के न्यायिक सोपान में दूसरे नंबर का सर्वोच्च न्यायालय था। इस न्यायालय की अधिकारिता व्यापक थी और इसमें निम्नलिखित समाविष्ट थे :

1. संवैधानिक उपबंधों की व्याख्या या उनसे उत्पन्न किसी/किन्हीं अधिकार या दायित्वों के अवधारण से संबंधित कोई मामला, यदि विवादग्रस्त पक्ष
   (अ) संघ और कोई प्रांत अथवा देशी रियासत हो या
   (ब) दो प्रांत या दो देशी रियासतें या एक प्रांत और एक देशी रियासत हो;
2. संविधान अधिनियम के आरंभ होने के बाद परिसंघ और किसी परिसंघीय इकाई या परिसंघीय इकाइयों के बीच किए गए किसी समझौते की व्याख्या से संबंधित अथवा उससे उत्पन्न कोई मामला जब तक कि उस समझौते में अन्यथा उपबंधित न हो (भारत शासन अधिनियम 1935 की धारा 204)।

परिसंघ न्यायालय को उच्च न्यायालय या देशी रियासत के किसी न्यायालय के किसी निर्णय की अनन्य अपीली अधिकारिता प्रदान की गई। यह उन मामलों के लिए था जहां संविधान अधिनियम की व्याख्या से संबंधित विधि का कोई सारवान प्रश्न विचार के लिए हो या इस अधिनियम से उद्भूत कोई अधिकार अथवा दायित्व का प्रश्न उपस्थित हो गया हो। अपील तभी की जा सकती थी जब उच्च न्यायालय 1935 के अधिनियम की धारा 205 के अधीन प्रमाण पत्र देकर अपील की अनुमति दे दे। किंतु प्रिवी काउंसिल की अपीली

अधिकारिता यथापूर्व बनी रही (भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 208)।

न्यायिक समिति अधिनियम 1833 की धारा 4 के अधीन प्रिवी काउंसिल की अधिकारिता के समान इस न्यायालय को भी सार्वजनिक महत्व के उन प्रश्नों पर अपनी परामर्शी राय देने की अधिकारिता प्रदान की गई जिन्हें गवर्नर जनरल अपने विवेकानुसार इस न्यायालय को परामर्श के लिए भेजे। यह भी उपबंध था कि भारत शासन अधिनियम अथवा किसी साधारण संवैधानिक अधिनियम की व्याख्या से संबंधित विधि के प्रश्न पर यदि किसी परिसंघ रियासत के किसी उच्च न्यायालय ने कोई निर्णय दिया है तो उसकी अपील परिसंघ न्यायालय को की जा सकती है।

१५ अगस्त 1947 के बाद जब यह अनुभव किया गया कि भारत की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति हो चुकी है तो परिसंघ न्यायालय को सर्वोच्च न्यायालय के रूप में पूर्ण शक्तियां एवं अधिकारिता प्रदान करने का प्रश्न सामने आया। तदनुसार, 1 अप्रैल 1948 से, आरंभिक पग के रूप में, इसे सभी सिविल मामलों में किसी भी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे निर्णय, डिक्री या अंतिम आदेश की अपील सुनने की अधिकारिता प्रदान कर दी गई जिसकी, विशेष अनुमति देकर अथवा उसके बिना ही, सीधी अपील सपरिषद सम्राट यानी प्रिवी काउंसिल को की जा सकती थी। इस प्रकार इसकी अधिकारिता का विस्तार कर दिया गया। सितंबर 1949 में, संविधान सभा ने 1949 के अधिनियम 5 द्वारा सपरिषद सम्राट की भारत क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय अथवा अधिकरण द्वारा दिए गए किसी निर्णय, डिक्री या अंतिम आदेश के बारे में अपीलों और याचिकाओं को विचारार्थ ग्रहण करने और उनकी सुनवाई करने की अपीली अधिकारिता समाप्त कर दी। इसमें दांडिक मामलों से संबंधित अपीलें और याचिकाएं भी सम्मिलित थीं। यह अधिकारिता अब परिसंघ न्यायालय को प्रदान कर दी गई जो सभी प्रयोजनों के लिए भारत का अंतिम न्यायालय बन गया। इससे पुरानी संकल्पना को तिलांजलि दे दी गई कि राजा ही सब मामलों का अंतिम निर्णायक है।

आज की न्यायपालिका

5

भारत में न्यायालय

दांडिक न्यायालय

अनुक्रम तथा प्रक्रिया

सामान्य धारणा यह है कि आपराधिक माने जा सकने वाले कृत्यों के लिए पहले दंड का जो रूप प्रचलित था, वह था व्यक्तिगत प्रतिबोध। कोई किसी को क्षति पहुंचाता था तो उसका प्रतिकार करना आहत व्यक्ति अथवा उसके परिवार के लोगों का निजी मामला होता था और समाज प्रायः इसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। व्यक्तिगत प्रतिकार प्रायः परिवारों, कुलों अथवा जनजातियों के बीच रक्त-बैर का कारण बन जाता था। इससे कभी कभी जानमाल की इतनी अधिक हानि होती थी कि समाज ने, धीरे धीरे, व्यक्तिगत प्रतिशोध पर अंकुश लगाना शुरू कर दिया और अपराधियों पर मुकदमे चलाकर आधिकारिक दंड देने की परंपरा डाली। फिर भी, कुल-बैर—विशेषकर विभिन्न समुदायों के शक्तिशाली परिवारों के बीच—युद्ध का एक कारण बना रहा।

धार्मिक नेता अक्सर विवादों को सुलझाने के लिए मध्यस्थ की और अपराधों के लिए दंडधारी की भूमिका निभाते थे। जिस युग में लोग देवी-देवताओं और अलौकिक शक्तियों से बड़ा भय खाते थे उस समय अपराधियों के विरुद्ध दैवी प्रतिशोध की धमकी बड़ा काम करती थी और जादू-टोना तथा धर्म प्रभावी सामाजिक उपकरण का काम करते थे। जो काम समाज की भलाई के प्रतिकूल होते थे, उन्हें देवी-देवताओं को अप्रसन्न करने वाला माना जाता था और यह समझा जाता था कि प्लेग, भूकंप आदि आपदाएं दैवी प्रकोप की प्रतीक हैं। यदि अपराध के बदले दिया गया दंड उसकी गंभीरता के अनुरूप होता था तो यह माना जाता था कि इससे दैवी प्रकोप में कमी आएगी। 'खून के बदले खून' की धारणा का मूल स्रोत यही था; यही वह समय था जब अपराध और पाप की धारणाओं ने एक-दूसरे को आच्छादित करना आरंभ कर दिया।

इसके अतिरिक्त, राजकीय प्रतिकार नाम की चीज भी थी। ऐसा समझा जाता था

कि व्यक्ति अथवा समाज के विरुद्ध व्यवहार से केवल देवता ही अप्रसन्न नहीं होते अपितु इसका प्रभाव राजनीतिक स्थिरता और सामाजिक समूह के कल्याण पर भी पड़ता है। अपराधी को दंडित करने के लिए राज्य अपनी कार्रवाई धार्मिक संस्थाओं से अलग रहते हुए करता था—इसी राजकीय प्रतिशोध में आधुनिक न्याय तंत्र का उद्‌गम निहित है जिसमें आहत पक्ष को अपने विरुद्ध किए गए अन्याय को दूर कराने के लिए उपयुक्त प्राधिकारियों के समक्ष आवेदन करना पड़ता है।

भारत में, इतिहास ने एक विधि संहिता को जन्म दिया जिसे मनुस्मृति के नाम से जाना जाता है। इसकी रचना का काल ईसा के पूर्व तेरहवीं और नवीं शताब्दी के बीच माना जाता है। इसमें कहा गया है कि न्यायाधीशों के काम का एक भाग यह भी है कि वे अपराधी और साक्षियों की मुद्रा, चालढाल और उनके स्वर तथा अभिव्यक्ति में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करके उनके हृदय को टटोलें। इस प्रकार से, न्यायिक मनोविज्ञान पर ध्यान देने वाली यह पहली विधि संहिता थी जिसका आज भी हमारी दंड संहिता और दांडिक न्यायालयों में स्थान है।

भारतीय दंड संहिता 1860

भारत की अधिष्ठायी आपराधिक विधि को 1860 की भारतीय दंड संहिता में और प्रक्रिया विधि को दंड प्रक्रिया संहिता 1973 में संहिताबद्ध किया गया है। दंड संहिता का विषय विनिर्दिष्ट रूप से विभिन्न अपराध हैं। उसमें यह बताया गया है कि कौन से कार्य अपराध माने जाएंगे और किसी अपराध के आरोप की क्षमा या प्रतिरक्षा कैसे की जा सकेगी। दंड संहिता अधिष्ठायी विधि है जबकि दंड प्रक्रिया संहिता प्रक्रियात्मक है। दूसरे शब्दों में, इसमें व्यवस्था दी गई है कि भारतीय दंड संहिता या किसी अन्य अधिनियम के अधीन आने वाले सभी अपराधों का अन्वेषण, जांच, विचारण आदि इस संहिता में दिए गए उपबंधों के अनुसार ही होंगे।

दंड संहिता में उल्लिखित अपराधों पर कार्रवाई दांडिक न्यायालयों में की जाती है और भारत के किसी ऐसे व्यक्ति को जिसने कोई अपराध किया है, भारतीय दंड संहिता में दी गई व्यवस्था के अनुसार तथा दंड प्रक्रिया में वर्णित विधि से दंडित किया जा सकता है। भारत के किसी भी भाग में उक्त संहिता अथवा किसी अधिनियम में उल्लिखित अपराध करने पर दोषी व्यक्ति को उसकी जाति, पदस्थिति अथवा पंच के आधार पर भेदभाव किए बिना दंडित किए जाने का विधान है। भारत की भूमि पर यदि कोई विदेशी किसी तरह का अपराध करता है तो उसका भी अभियोजन किया जा सकता है और दोषी पाए जाने पर उसे दंडित किया जा सकता है। इसके अपवाद निम्नलिखित हैं :

1. विदेशी शासक;

2. राजदूत और उन्मुक्ति-प्राप्त राजनयिक;
3. विदेशी शत्रु;
4. विदेशी सेनाएं;
5. युद्धपोत; तथा
6. संविधान के अनुच्छेद 361 के अंतर्गत राष्ट्रपति तथा राज्यपाल।

भारतीय दंड संहिता में उल्लिखित अपराधों के अतिरिक्त संसद तथा राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों के द्वारा सर्जित अपराध भी हैं। जब तक कि किसी अधिनियम द्वारा किन्हीं विशेष न्यायालयों की स्थापना नहीं की जाती, सभी अपराधों का विचारण, जिनमें दंड या जुर्माना किया जा सकता है, केवल दांडिक न्यायालयों द्वारा ही किया जा सकता है। विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, आयकर अधिनियम, सीमा शुल्क अधिनियम, केंद्रीय उत्पाद शुल्क तथा नमक अधिनियम, खाद्य अपमिश्रण अधिनियम, पुलिस अधिनियम, कंपनी अधिनियम आदि के अधीन किए गए अपराधों का विचारण भी दंड प्रक्रिया संहिता में दी गई प्रक्रिया के अनुसार दांडिक न्यायालयों द्वारा किया जाता है।

भारतीय दंड संहिता में विभिन्न अपराधों को विभिन्न शीर्षों के अंतर्गत सूचीबद्ध किया गया है, उदाहरण के लिए :

1. आपराधिक षड्यंत्र;
2. राज्य के विरुद्ध अपराध;
3. थलसेना, नौसेना और वायुसेना से संबंधित अपराध;
4. लोक प्रशांति के विरुद्ध अपराध;
5. लोक सेवकों द्वारा अथवा उनसे संबंधित अपराध;
6. निर्वाचन संबंधी अपराध;
7. लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार की अवमानना;
8. मिथ्या साक्ष्य तथा लोक न्याय के विरुद्ध अपराध;
9. सिक्कों और सरकारी स्टैंपों से संबंधित अपराध;
10. बाटों और मापों से संबंधित अपराध;
11. लोक स्वास्थ्य, क्षेम, सुविधा, शिष्टता और सदाचार को प्रभावित करने वाले अपराध;
12. धर्म से संबंधित अपराध;
13. मानव शरीर पर प्रभाव डालने वाले अपराध;
14. संपत्ति के विरुद्ध अपराध;
15. दस्तावेजों और संपत्ति चिह्नों से संबंधित अपराध;
16. सेवा संविदाओं के आपराधिक भंग;

17. विवाह से संबंधित अपराध;
18. पति तथा पति के संबंधियों की क्रूरता;
19. मानहानि;
20. आपराधिक अभित्रास, अपमान और क्षोभ आदि।

संसद को अधिकार है कि वह उपर्युक्त अपराधों में से किसी में कुछ जोड़ या परिवर्तन या संशोधन कर सके और भारतीय दंड संहिता अथवा किसी अन्य अधिनियम के अधीन नए अपराधों का सृजन कर सके। जहां तक नए अपराधों के सृजन का प्रश्न है, यह ध्यान देने योग्य बात है कि किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कार्य करने के लिए दंडित नहीं किया जा सकता जो करते समय अपराध नहीं था।

भारतीय दंड संहिता में यह उपबंध है कि विभिन्न न्यायालय कौन से दंड दे सकते हैं :

1. मृत्यु;
2. विभिन्न अवधियों के लिए कारावास जो आजीवन भी हो सकता है; कारावास दो प्रकार का हो सकता है :
   (अ) कठोर, अर्थात, कठोर श्रम सहित या
   (ब) सादा;
3. संपत्ति की जब्ती;
4. जुर्माना।

अपराध को देखते हुए, न्यायालय उपर्युक्त में से कोई एक अथवा कई प्रकार के दंडों को मिलाकर दंड दे सकते हैं। उदाहरण के लिए, जुर्माने के साथ साथ कारावास या विभिन्न अपराधों के लिए कारावास के अलग अलग दंडादेश दिए जा सकते हैं। ये दंड एक साथ चल सकते हैं अथवा एक के बाद एक।

दंड प्रक्रिया संहिता 1898 (1973 में नई संहिता द्वारा प्रतिस्थापित)

अंग्रेजी राज से पहले संपूर्ण भारत के लिए दंड प्रक्रिया की कोई एकसमान विधि नहीं थी। भूतपूर्व प्रांतों, प्रेसिडेंसी नगरों और देशी रियासतों में दंड प्रक्रिया के निर्देशन के लिए अलग अलग अधिनियम थे जिनका स्वरूप बड़ा अविकसित था। दंड प्रक्रिया संहिता 1882 ने पहली बार समूचे ब्रिटिश भारत के लिए एकसमान प्रक्रिया विधि उपलब्ध कराई। बाद में, 1898 के अधिनियम ने इसकी संपूर्ति की। 1898 की संहिता में जब जब कोई कमी दिखाई दी, उसे संशोधित किया जाता रहा। ऐसा विशेषकर भारत के स्वाधीन होने पर और भारतीय रियासतों के भारत गणतंत्र का अंग बन जाने पर हुआ।

विधि आयोग ने इस संहिता का ब्यौरेवार अध्ययन किया और सितंबर 1969 में अपनी 41वीं रिपोर्ट दी। फलस्वरूप 1973 में संहिता को पूरी तरह संशोधित किया गया और

संशोधित संहिता 1 अप्रैल 1974 से लागू हुई। दंड प्रक्रिया संहिता मुख्यतया एक वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया विधि है। इसका उद्देश्य अधिष्ठायी आपराधिक विधि जैसे कि, भारतीय दंड संहिता के विरुद्ध किए गए अपराधों के लिए दंड देने का एक तंत्र स्थापित करना है। वस्तुतया इस संहिता को भारतीय साक्ष्य अधिनियम के साथ पढ़ा जाना चाहिए। संहिता में आई.पी.सी. के अलावा अन्य अधिनियमों के अधीन किए गए सीमित अपराधों के लिए भी वही तंत्र निर्धारित है। किंतु यह संहिता मात्र प्रक्रिया विधि नहीं है। इसमें ऐसे उपबंध भी है जिनकी प्रकृति अधिष्ठायी विधि जैसी है; उदाहरण के लिए, अपराधों का निवारण, अध्याय 9, धारा 125 के अधीन भरण-पोषण (बच्चों, पत्नी और माता तथा पिता) की कार्रवाइयां। दंड प्रक्रिया संहिता में समाविष्ट कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं :

1. दंड न्यायालयों और पदों का गठन;
2. न्यायालयों की शक्तियां;
3. लोगों की गिरफ्तारी;
4. अभियुक्त तथा साक्षियों को उपस्थित होने के लिए विवश करने की प्रक्रिया;
5. आरोपों की विरचना;
6. सुपुर्दगी की कार्यवाही;
7. मजिस्ट्रेट के समक्ष विचारण;
8. सेशन न्यायालय;
9. संक्षिप्त विचारण;
10. अपील आदि।

हमारे वर्तमान दंड न्यायालय

हमारे वर्तमान न्यायालय विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि से बने हैं अर्थात उनका गठन, कार्य और अधिकारिता भी इसी विधि द्वारा विनियमित है। निम्नतम से उच्चतम दंड न्यायालय की स्थापना से संबंधित उपबंध दंड प्रक्रिया संहिता में समाविष्ट हैं जबकि प्रक्रिया संहिता में सिविल न्यायालयों से संबंधित उपबंध हैं।

विधि का दांडिक और सिविल के बीच विभाजन उन दो श्रेणियों का बोधक है जो न्याय के प्रशासन के लिए एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। कारण यह है कि सामान्य नियमानुसार, सिविल मामलों पर कार्रवाई जिन न्यायालयों के क्रम द्वारा की जाती है उन्हें सिविल न्यायालय और दांडिक मामलों की सुनवाई जो न्यायालय करते हैं उन्हें दांडिक न्यायालय कहते हैं। इनकी कहीं स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई है पर सिविल न्यायालय दांडिक न्यायालयों से स्पष्टतया भिन्न हैं। सामान्य शब्दों में सिविल मामलों की सुनवाई करने वाले न्यायालयों की कार्रवाइयों को सिविल कार्रवाई और दांडिक मामलों की सुनवाई करने वाले

न्यायालयों की कार्रवाई को दांडिक कार्रवाई कहा जाता है। सिविल और दांडिक कार्रवाइयां भिन्न भिन्न न्यायालयों में होती हैं अतः इनकी प्रक्रियाएं और इन पर लागू होने वाली विधि भी भिन्न भिन्न हैं। 'सिविल कार्रवाइयां' अभिव्यक्ति में वे सभी कार्रवाइयां समाविष्ट हैं जिनमें कोई पक्ष सिविल विधि या अधिनियम द्वारा प्रदत्त किसी सिविल अधिकार के अस्तित्व का दावा करता है और उसके भंग होने के कारण अनुतोष की मांग करता है।

दूसरी ओर, दांडिक कार्रवाई साधारणतया वह होती है जो यदि अपने निष्कर्ष तक चलाई जाए तो इसके फलस्वरूप किसी को मृत्यु, कारावास, जुर्माने या संपत्ति की जब्ती का दंड दिया जा सकता है। दांडिक की कार्रवाई में किसी अपराध, अर्थात लोक विधि के विरुद्ध अपराध, के आरोप पर विचार किया जाता है। यह आरोप किन्हीं ऐसे न्यायालयों अथवा अधिकरणों के समक्ष प्रस्तुत करने योग्य होना चाहिए जिन्हें जुर्माने, कारावास आदि दंड लगाने की अधिकारिता है अथवा होने का दावा करते हैं। इसमें शांति-भंग की रोकथाम और शांति-व्यवस्था के लिए खतरनाक माने जाने वाले व्यक्तियों को आबद्ध करने की कार्रवाइयां भी सम्मिलित हैं। लेकिन सिविल और दांडिक कार्रवाइयों के बीच शत-प्रतिशत भेद कर पाना कठिन है। कुछ कार्रवाइयां ऐसी भी हो सकती हैं जो सिविल और दांडिक दोनों प्रकार के। हों या जो इनमें से किसी प्रकार न हों और जिन्हें 'अन्य कार्रवाइयों' के रूप में श्रेणीबद्ध किया जा सकता हो। भारत के उच्चतम न्यायालय ने एक मामले में यह कहा है कि "कार्रवाइयों का स्वरूप अनुतोष स्वीकृत करने का प्राधिकार रखने वाले अधिकरण की प्रकृति पर निर्भर नहीं करता बल्कि जिस अधिकार का उल्लंघन हुआ है, उसकी प्रकृति पर और जिस अनुतोष का दावा करना उचित हो और जो प्रदान किया जा सकता हो, उस पर निर्भर करता है। दांडिक कार्रवाई की, जिसे अभियोजन कहा जाता है परिणति आहत व्यक्ति को आर्थिक लाभ के रूप में नहीं हो सकती क्योंकि यदि अभियुक्त को जुर्माना किया जाता है तो वह सरकार को मिलता है (इसके कतिपय अपवाद हैं जैसे कि न्यायालय यह आदेश करे कि यदि आहत व्यक्ति बच जाए तो उसे अथवा उसके परिवार को जुर्माने की रकम दी जाए या फिर, मोटर दुर्घटना के मामले)। किसी अपराध के फलस्वरूप आहत व्यक्ति अभियोजन प्रारंभ कर सकता है पर उसे अपनी आहत गरिमा के प्रतिकार के संतोष के अलावा और कुछ प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए अभियोजन प्रायः राज्य की ओर से अर्थात सरकारी अभियोजक के माध्यम से पुलिस द्वारा चलाया जाता है। कुछ ऐसी क्षतियां हैं, उदाहरण के लिए, अपमान लेख/मानहानि जिनमें दोनों तरह की कार्रवाइयों का सूत्रपात किया जा सकता है। इनमें वादी नुकसानी की मांग कर सकता है और अगर उसे सफलता मिलती है तो प्रतिवादी को जेल नहीं जाना होगा; किंतु जहां प्रतिवादी से कोई रकम प्राप्त हो सकने की आशा न हो, वहां दांडिक कार्रवाई का सूत्रपात किया ज' सकता है। व्यवहार में, 'दंड' अथवा 'आर्थिक क्षतिपूर्ति' की कसौटी के आधार

पर दांडिक और सिविल कार्रवाइयों के बीच भेद कर पाना कठिन नहीं होता।

वर्तमान दांडिक न्यायालय एक आरोही क्रम में तीन पृथक सोपानों पर अवस्थित हैं। हर जिले में प्रथम और द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के न्यायालय होते हैं। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों में से एक को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट नियुक्त कर दिया जाता है और उच्च न्यायालय उसके न्यायालय को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय के रूप में अभिहित कर देता है जो सत्र न्यायालय के अधीन रहकर काम करता है। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट विधि द्वारा प्राधिकृत दंड दे सकता है अथवा जुर्माना कर सकता है पर वह मृत्युदंड या आजीवन कारावास अथवा सात वर्ष से अधिक के कारावास का दंड नहीं दे सकता। सत्र न्यायालय उच्च न्यायालय के अधीन होता है।

दिल्ली, मुंबई, कलकत्ता और मद्रास जैसे महानगरों में, जिन्हें पहले प्रेसिडेंसी नगर कहा जाता था, न्यायालयों को महानगर मजिस्ट्रेटों के न्यायालय कहा जाता है और मुख्य महानगर

उच्च न्यायालय

राज्य का शिखर न्यायालय

(प्रत्येक महानगर और जिले में)

सत्र न्यायाधीश

अपर सत्र न्यायाधीश

सहायक सत्र न्यायाधीश

सत्र न्यायालय

कार्यपालक मजिस्ट्रेट

नगरपालिका मजिस्ट्रेट

पंचायत न्यायालय

मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट

महानगर मजिस्ट्रेट

(महानगर में)

सत्र तथा अपर सत्र न्यायाधीश

मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी

अतिरिक्त न्यायिक मजिस्ट्रेट

न्यायिक मजिस्ट्रेट, द्वितीय श्रेणी (जिलों में)

मजिस्ट्रेट को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां होती हैं जबकि महानगर मजिस्ट्रेट को प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की शक्तियां मिली होती हैं। अब अहमदाबाद को भी महानगर का दर्जा मिल गया है।

दंडनीय अपराध न्यायालयों के एक भिन्न सोपान को सुनवाई के लिए सौंपे जाते हैं। कौन-सा मामला किस न्यायालय को सौंपा जाएगा, यह अपराध की प्रकृति और उस न्यायालय की दंड देने की शक्ति पर निर्भर करता है।

राज्य के प्रत्येक जिले में, उच्च न्यायालय एक प्रथम श्रेणी का न्यायिक मजिस्ट्रेट नियुक्त करता है जिसे मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट कहते हैं। उच्च न्यायालय प्रथम श्रेणी के और न्यायिक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति भी कर सकता है जिन्हें अपर मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट कहा जाता है। इन्हें मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की ही शक्तियां होती हैं। जिले के उपखंड में उच्च न्यायालय प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति कर सकता है जिन्हें उपखंड न्यायिक मजिस्ट्रेट कहा जाता है; मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के सामान्य नियंत्रण को छोड़कर, प्रत्येक उपखंड न्यायिक मजिस्ट्रेट को उच्च न्यायालय की दी हुई शक्ति होती है जिसका वह प्रयोग करता है।

किसी विशेष मामले में उच्च न्यायालय किसी भी व्यक्ति को प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की शक्तियां प्रदान कर सकता है; ऐसे व्यक्ति को विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट कहा जाता है। ये मजिस्ट्रेट एक विशेष अवधि के लिए, जो सामान्यतया एक वर्ष से अधिक नहीं होती, नियुक्त किए जाते हैं, और वे उन मामलों का विचारण करते हैं जो उन्हें सौंपे जाते हैं। ये अतिरिक्त मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट अपने नियत क्षेत्रों में अधिकारिता का प्रयोग कर सकते हैं।

कार्यपालक मजिस्ट्रेट

न्यायिक मजिस्ट्रेटों के अतिरिक्त, राज्य सरकार प्रत्येक जिले में जितने आवश्यक समझे उतने कार्यपालक मजिस्ट्रेट नियुक्त कर सकती है जिनमें से एक जिला मजिस्ट्रेट नियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार किसी विशेष क्षेत्र में समय समय पर विशेष मजिस्ट्रेट की नियुक्ति कर सकती है जो वह उचित समझे। इस प्रकार, कार्यपालक मजिस्ट्रेटों के पांच वर्ग हैं :

1. जिला मजिस्ट्रेट
2. अपर जिला मजिस्ट्रेट
3. उप-खंड मजिस्ट्रेट
4. कार्यपालक मजिस्ट्रेट
5. विशेष मजिस्ट्रेट

राज्य सरकार महानगरीय क्षेत्रों में कार्यपालक मजिस्ट्रेट भी नियुक्त कर सकती है।

जिला मजिस्ट्रेट, जो राज्य सरकार के नियंत्रण में होते हैं, समय समय पर उन स्थानीय सीमाओं को परिनिश्चित करते हैं जिनके भीतर कार्यपालक मजिस्ट्रेट अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं।

राज्य सरकार अपर जिला मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति कर सकती है। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट या मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट मृत्युदंड अथवा आजीवन कारावास अथवा सात वर्ष से अधिक अवधि के कारावास को छोड़कर कोई भी दंड दे सकते हैं। जुर्माना न देने की स्थिति में, न्यायालय कारावास की अवधि और बढ़ा सकता है।

प्रथम श्रेणी की शक्तियों से युक्त मजिस्ट्रेट अधिकतम तीन वर्ष का कारावास (कठोर या सादा) या 5000 रु. तक का जुर्माना या दोनों देने का अधिकारी है। द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट को अधिक-से-अधिक दो वर्ष के कारावास और 1000 रु. जुर्माना या दोनों देने की शक्ति होती है।

प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट की तुलना में अधिक व्यापक अधिकारिता तथा शक्तियां होती हैं।

सत्र न्यायालय

मजिस्ट्रेटों के न्यायालयों के ठीक ऊपर सत्र न्यायालय होते हैं जिनकी अध्यक्षता सत्र न्यायाधीश करते हैं। निचले न्यायालयों द्वारा सुपुर्द किए जाने के बाद सत्र न्यायालय में ही डकैती, सभी प्रकार के मानव वध, आभ्यासिक अपराधियों द्वारा की गई चोरियों आदि गंभीर अपराधों का विचारण होता है। दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन राज्य सरकार के लिए प्रत्येक सत्र खंड के लिए एक सत्र न्यायालय की नियुक्ति करना आवश्यक है। सामान्यतया, प्रत्येक सत्र खंड में एक सत्र न्यायालय होता है, यद्यपि उसमें एक से अधिक न्यायाधीश हो सकते हैं। इन्हें अपर सत्र न्यायाधीश अथवा सहायक सत्र न्यायाधीश कहा जाता है; ये सब उसी न्यायालय के न्यायाधीश होते हैं। अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश उन सब मामलों का विचारण करता है जो उसे सत्र न्यायाधीश द्वारा भेजे जाते हैं। लेकिन किसी मजिस्ट्रेट के न्यायालय के निर्णय की अपील केवल सत्र न्यायाधीश द्वारा ही स्वीकार की जाती एवं सुनी जा सकती है। सत्र न्यायाधीश का न्यायालय किस स्थान पर लगेगा इसका निर्णय उच्च न्यायालय करता है। सत्र न्यायालय को निचले न्यायालयों पर अपीली और पुनरीक्षण, दोनों अधिकारिता होती है। उसके पास सत्र के मामलों की सुनवाई करने की आरंभिक अधिकारिता भी होती है किंतु उसे मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्द किए बिना उनके संज्ञान की शक्ति नहीं होती। ये न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता की व्यवस्थाओं के अनुसार मामलों और अपीलों की सुनवाई तथा निर्णय करते हैं।

सुपुर्द करने की प्रक्रिया

किसी गंभीर अपराध की मजिस्ट्रेट द्वारा आरंभिक जांच किए जाने के बाद अगर यह प्रतीत होता है कि अपराध की प्रकृति को देखते हुए इस पर कठोर कार्रवाई की जानी चाहिए अथवा ऐसा दंड दिया जाना चाहिए जो कि मजिस्ट्रेट की शक्तियों से परे है तो मामले को विचारण के लिए सत्र न्यायालय को भेज दिया जाता है। इसे सत्र सुपुर्द करने की क्रिया कहते हैं। सत्र न्यायाधीश (अथवा अपर सत्र न्यायाधीश) मृत्युदंड समेत विधि द्वारा प्राधिकृत कोई दंड (आजीवन कारावास समेत कारावास तथा जुर्माना) दे सकता है। किंतु मृत्युदंड को क्रियान्वित तभी किया जा सकता है जब उच्च न्यायालय इसकी पुष्टि कर दे। सत्र न्यायाधीश प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के आदेशों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई भी करता है। सत्र न्यायाधीशों के पास प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों की भांति पुनरीक्षण की शक्तियां भी होती हैं।

प्रत्येक दांडिक न्यायालय की किसी अपराध विशेष का विचारण करने की अधिकारिता विधि से व्युत्पन्न होती है। मामले से संबंधित पक्ष परस्पर सहमति से अधिकारिता प्रदान नहीं कर सकते। सत्र सुपुर्द करने की विधिक कार्रवाई के बाद मामला विधिवत सामने आने पर उस पर सत्र न्यायालय की अधिकारिता हो जाती है। सहायक न्यायाधीश मृत्युदंड, आजीवन कारवास अथवा दस वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर विधि द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंड सुना सकता है। अतः मृत्यु, हत्या, डकैती आदि गंभीर मामलों की सुनवाई सहायक सत्र न्यायाधीश द्वारा नहीं बल्कि सत्र न्यायाधीश द्वारा की जाती है।

अंत में, सोपान के शीर्ष पर, प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय है जिसे अपने अधीनस्थ सभी न्यायालयों के अधीक्षण की शक्ति प्राप्त होती है। वैसे, उच्च न्यायालय के प्रमुख कार्य अपीलों, पुनरीक्षणों और निर्देशों की सुनवाई करना है। सत्र न्यायाधीशों द्वारा सिद्धदोष सभी व्यक्तियों को उच्च न्यायालय के समक्ष अपील करने का अधिकार है। यदि सत्र न्यायाधीश किसी को दोषमुक्त कर दे और इस आदेश के विरुद्ध राज्य अपील करना चाहे तो वह भी उच्च न्यायालय में ही की जाती है। मृत्युदंड के विरुद्ध सिद्धदोष अपील करे या न करे, उसे तभी क्रियान्वित किया जा सकता है जब उच्च न्यायालय उसकी पुष्टि कर दे। जिला मजिस्ट्रेटों अथवा सत्र न्यायाधीशों द्वारा भेजे गए पुनरीक्षण के मामलों पर केवल उच्च न्यायालय ही विचार कर सकता है।

केवल उन मामलों को छोड़कर जिनमें विधि को गलत ढंग से लागू करने अथवा प्रक्रिया के दोष के कारण न्याय नहीं हो पाया है, शेष सभी मामलों में उच्च न्यायालय अपील के अंतिम न्यायालय हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की व्यवस्था के अनुसार अथवा भारत के संविधान के अनुच्छेद 134 के अधीन, उच्च न्यायालय की अनुमति से उच्चतम न्यायालय

में अपील की जा सकती है। अन्य मामलों में, उच्चतम न्यायालय को अपील की विशेष अनुमति देने और संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन, अपील को विचारार्थ स्वीकार करने की अबाध शक्ति प्राप्त है।

हमारे दांडिक न्यायालयों के ये तीन प्रमुख स्तर हैं। इनके अलावा, ग्राम पंचायतें और विशेष अधिनियमों के अधीन मामलों की सुनवाई करने के लिए कतिपय विशेष अधिकरण भी हैं (इनकी चर्चा अलग से की गई है)।

प्रक्रिया

दांडिक मामलों के विचारण की प्रक्रिया दंड प्रक्रिया संहिता में उपबंधित है। कुछ छोटे अपराधों का जैसे मोटर यान अधिनियम के विरुद्ध किए गए अपराध, छोटी-मोटी चोरियां, पशु अतिचार अधिनियम के अधीन अपराध आदि का संक्षिप्त विचारण होता है और उनका निपटारा विस्तृत और लंबे विचारण के बिना ही कर दिया जाता है। अभियुक्त को न्यायालय में पेश होने के लिए कहा जाता है और उसे उसके विरुद्ध आरोप समझा दिया जाता है। उसे आरोप को स्वीकार करने अथवा उसकी सचाई से इंकार करने के लिए कहा जाता है; यदि वह इंकार करता है तो उसके समर्थन में जो साक्ष्य हो, उसकी परीक्षा उसी समय कर ली जाती है। मामूली प्रकार के कुछ अन्य अपराधों का भी विचारण समन केसों के रूप में किया जाता है। इसका अर्थ है कि जब अभियुक्त मजिस्ट्रेट के सामने पेश होता है तो उसे उसके विरुद्ध आरोप की प्रकृति बता दी जाती है और उसे अपना स्पष्टीकरण देने के लिए कहा जाता है। यदि वह आरोप की सचाई स्वीकार करता है तो उसे उसी समय दोषी करार देकर दंड सुना दिया जाता है। यदि वह अपने को निर्दोष बताता है तो मजिस्ट्रेट उसके विरुद्ध साक्ष्य सुनता है। इसके बाद अभियुक्त एक और कथन कर सकता है और अपनी प्रतिरक्षा में साक्ष्य का आह्वान कर सकता है। अपेक्षाकृत गंभीर अपराधों का विचारण वारंट केसों के रूप में किया जाता है। इनकी प्रक्रिया कुछ भिन्न है। वारंट मामलों में जब अभियुक्त मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत होता है तो मजिस्ट्रेट तब तक उससे प्रश्न नहीं पूछता जब तक वह अभियोग पक्ष की कम से कम कुछ साक्ष्य नहीं सुन लेता। उसके पश्चात अभियोग अथवा अपराध की प्रकृति बताते हुए एक औपचारिक आरोप तैयार किया जाता है और अभियुक्त से पूछा जाता है कि वह अपना अपराध स्वीकार करता है या नहीं। इसका उद्देश्य अभियुक्त को अपने विरुद्ध आरोप का खंडन करने के लिए पूरा अवसर प्रदान करना है, जिसकी प्रक्रिया अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसके अलावा, उसे अपने विरुद्ध पेश होने वाले साक्षियों की प्रतिपरीक्षा के दो अवसर मिलते हैं। सत्र में विचारण से पहले मजिस्ट्रेट द्वारा जांच की जाती है जिसका उद्देश्य मामले को सत्र सुपुर्द करने से

पहले उसकी छंटाई करना है। सामान्यतया मजिस्ट्रेट शिथिल मामलों को भी खारिज करने में संकोच करते हैं इसलिए आरंभिक जांच—जिसे सुपुर्दगी की कार्यवाई कहा जाता है—की परिणति प्रायः मामले को सत्र सुपुर्द करने में होती है। सत्र में विचारण सत्र न्यायाधीश द्वारा किया जाता है।

मामले के साक्ष्य अभिलेखबद्ध हो जाने और बहस सुन लेने के बाद सत्र न्यायाधीश अभियुक्त को संबोधित करता है। वह अभियुक्त को आरोप समझाता है, अभियोग तथा प्रतिरक्षा पक्षों की ओर से प्रस्तुत साक्ष्य पर टिप्पणी करता है और उसके बाद अभियुक्त से कतिपय प्रश्न करता है। पक्षों तथा उनके अधिवक्ताओं को सुनने के बाद न्यायाधीश यह अवधारण करता है कि अभियुक्त दोषी है या नहीं। यदि वह दोषी नहीं है तो उसे दोषमुक्त कर दिया जाता है। यदि उसे दोषी ठहराया जाता है तो उसे कारण बताने का अवसर दिया जाता है कि उसे विधि के अनुसार अमुक दंड क्यों न दिया जाए।

खर्चा

दांडिक मामलों में अभियोजन पक्ष को सिद्धदोष के विरुद्ध कोई खर्चा मंजूर नहीं किया जाता। खर्चा या तो राज्य वहन करता है या संबंधित पक्ष। जुर्माना करते समय न्यायालय यह निर्देश दे सकता है कि वसूल किए गए जुर्माने का एक भाग क्षतिपूर्ति के रूप में आहत पक्ष को दे दिया जाए। इसके अलावा, न्यायालय उचित समझे तो यह आदेश दे सकता है कि जांच के लिए उपस्थित होने वाले परिवादी या साक्षी को उचित खर्चा न्यायालय देगा। उपयुक्त मामलों में, यदि स्थगन की मांग की जाती है तो न्यायालय, यथास्थिति, अभियोजन अथवा अभियुक्त को खर्चे की अदायगी करने का आदेश कर सकता है।

क्रमिक तथा समवर्ती दंड

जहां एक ही विचारण में कई अपराधों के लिए कई दंड दिए जाते हैं वहां न्यायालय यह आदेश दे सकता है कि ये दंड साथ साथ चलेंगे अर्थात अभियुक्त को दिए विभिन्न दंडों की अवधि के लिए कारावास का दंड भोगना होगा; इस प्रकार का आदेश न दिया जाए तो कारावास की अवधियां क्रमिक रूप से चलेंगी यानी अभियुक्त को सभी अवधियों के योग के बराबर कारावास भोगना होगा—एक दंड की अवधि समाप्त होने पर दूसरी दंड की अवधि प्रारंभ होगी।

निम्नलिखित सारणी में दांडिक न्यायालयों की विभिन्न श्रेणियों से अपील किस किस न्यायालय में होती है, यह दर्शाया गया है :

विचारण न्यायालय	*अपील न्यायालय*
1. उच्च न्यायालय	(अ) असाधारण दांडिक अधिकारिता में दोष-सिद्धि पर, उच्चतम न्यायालय; (ब) अपने यहां प्रत्याहृत किए गए मामलों में दोषसिद्धि होने तथा मृत्युदंड दिए जाने पर, संविधान के अनुच्छेद 134(ख) के अधीन उच्चतम न्यायालय; अन्य मामलों में उच्चतम न्यायालय (अधिकारिता विस्तारण) अधिनियम के अधीन उच्चतम न्यायालय; (स) अन्य मामलों में, अनुच्छेद 134(1) (ग) के अधीन प्रमाण-पत्र पर, अथवा संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की इजाजत से; धारा 375(ख) और धारा 376(क) में दिए गए अपवाद के अधीन;
2. सत्र न्यायाधीश तथा अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश	दोषसिद्धि तथा सात वर्ष से अधिक के कारावास के विरुद्ध, उच्च न्यायालय;
3. सहायक सत्र न्यायाधीश	सत्र न्यायाधीश; संहिता में दिए गए अपवादों के अधीन;
4. कोई न्यायिक अथवा महानगरीय मजिस्ट्रेट	संहिता में अनुमत अपवादों के अधीन दोषसिद्धि या दंड के विरुद्ध, सत्र न्यायाधीश।

पुनरीक्षण : दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397(1) के अधीन उच्च न्यायालय को सभी कार्यपालक तथा न्यायिक मजिस्ट्रेटों और सत्र न्यायालयों के ऊपर पुनरीक्षण की शक्ति है। सत्र न्यायाधीश को सहायक सत्र न्यायाधीश तथा सभी कार्यपालक एवं न्यायिक मजिस्ट्रेटों के ऊपर पुनरीक्षण का प्राधिकार है।

वर्तमान व्यवस्था में न्यायिक मजिस्ट्रेट अथवा महानगरीय मजिस्ट्रेट के कार्य, संक्षेप में, इस प्रकार हैं :

1. *अपराधों का निवारण* : दोष सिद्ध होने पर शांति बनाए रखने के लिए जमानत मांगने की शक्ति; अन्य निर्दिष्ट मामलों में, जमानत देने में व्यतिक्रम करने पर कारावास।
2. *आदेश* : अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ पत्नी, बच्चों और माता-पिता के भरण-पोषण के लिए।

3. *अन्वेषण के संबंध में शक्तियां* : धारा 157 के अधीन किसी पुलिस अफसर से रिपोर्ट मिलने पर किसी ऐसे असंज्ञेय मामले अथवा संज्ञेय अपराध के अन्वेषण की किसी पुलिस अधिकारी को आदेश देने की शक्ति जिसकी मजिस्ट्रेट अन्वेषण या आरंभिक जांच करना चाहता है; अन्वेषण के दौरान किए गए संस्वीकृतियों और कथनों को लेखबद्ध करना; अन्वेषण होने तक गिरफ्तार व्यक्ति पर नजर रखे जाने अथवा उसे निरुद्ध करने का प्राधिकार देना; छह मास के भीतर अन्वेषण पूरा न हो तो उसे रोक देना; अभियुक्त को पुलिस रिपोर्ट के साथ विचारण के लिए ग्रहण करना।
4. *अपराधों के संज्ञान की शक्ति* : जब तक न्यायिक मजिस्ट्रेट संज्ञान न करे तब तक किसी अपराध का विचारण नहीं हो सकता। मोटे तौर पर, जिस मजिस्ट्रेट को किसी मामले के विचारण अथवा उसे विचारण के लिए सुपुर्द करने की शक्ति प्राप्त न हो, वह उसका संज्ञान करने के लिए समर्थ नहीं है।
5. *सत्र न्यायालय को विचारण के लिए सुपुर्द करने की शक्ति* : यदि मजिस्ट्रेट ने किसी ऐसे अपराध का संज्ञान किया है जिस पर विचारण केवल सत्र न्यायालय द्वारा किया जा सकता है तो उसे विचारण के लिए उक्त न्यायालय को सुपुर्द कर दिया जाना चाहिए।
6. *मामले के विचारण की शक्ति* : उन मामलों को छोड़कर जिनका विचारण केवल सत्र न्यायालय द्वारा किया जा सकता है, अन्य मामलों का, अपराध की गंभीरता के अनुसार (अ) वारंट, (स) समन, या (ब) संक्षिप्त प्रक्रिया के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट विचारण कर सकता है।

किसी अपराध का विचारण प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट करेगा अथवा द्वितीय श्रेणी का, यह दंड प्रक्रिया संहिता की प्रथम अनुसूची के आधार पर किया जाता है। प्रथम अनुसूची में कतिपय अपराधों—उदाहरणार्थ, भारतीय दंड संहिता की धारा 461-462—के सामने दी गई 'कोई मजिस्ट्रेट' अभिव्यक्ति से तात्पर्य प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट से है; नई संहिता के अनुसार कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को विचारण की शक्ति नहीं है।

मुख्य न्यायिक तथा मुख्य महानगरीय मजिस्ट्रेट की शक्तियां

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके अतिरिक्त ये शक्तियां इस प्रकार हैं :

1. न्यायिक मजिस्ट्रेटों की स्थानीय अधिकारिता को परिनिश्चित करना;
2. अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेटों के, जो उसके अधीनस्थ हैं, कार्य का नियंत्रण और पर्यवेक्षण तथा उनके बीच काम का बंटवारा;

3. कुर्क की गई संपत्ति के दावों अथवा उसके संबंध में आक्षेपों का निर्णय या निर्णय के लिए किसी अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को सौंपना;

विभिन्न वर्गों के न्यायालयों द्वारा दिए जा सकने वाले अधिकतम दंड

न्यायालय	*अधिकतम दंड*
1. उच्च न्यायालय	विधि द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंड (धारा 28(1)।
2. सत्र न्यायाधीश या अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश	विधि द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंड किंतु इस वर्ग के न्यायाधीश द्वारा दिए गए मृत्युदंड की पुष्टि उच्च न्यायालय करेगा।
3. सहायक सत्र न्यायाधीश	मृत्युदंड, आजीवन कारावास या दस वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर विधि द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंड।
4. मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट तथा मुख्य महानगरीय मजिस्ट्रेट	मृत्युदंड, आजीवन कारावास, सात वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर विधि द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंड।
5. महानगरीय मजिस्ट्रेट अथवा प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट	अधिक-से-अधिक तीन वर्ष का कारावास; अधिक-से-अधिक 5000 रु. जुर्माना।
6. द्वितीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट तथा विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट	अधिक-से-अधिक एक वर्ष का कारावास; अधिक-से-अधिक 1000 रु. जुर्माना।

4. अन्वेषण आदि के लिए आवश्यक डाक वस्तुएं पहुंचाने के लिए डाक अधिकारी को आदेश देना, तथा ऐसी वस्तुओं की तलाशी के लिए वारंट निकालना;

5. जमानत देने में असफल होने के कारण बंदी बनाए गए व्यक्तियों को छोड़ देना;

6. ऐसे किसी भी मामले को जिसका उसने संज्ञान किया है, विचारण के लिए किसी अधीनस्थ मजिस्ट्रेट को सौंपना अथवा किसी ऐसे मामले को जिसका संज्ञान एक मजिस्ट्रेट ने किया है, अभियुक्त द्वारा प्रार्थना पत्र दिए जाने पर किसी अन्य मजिस्ट्रेट को अंतरित करना;

7. किसी अन्य न्यायालय या मजिस्ट्रेट से अपनी अधिकारिता के भीतर किसी साक्षी की परीक्षा का कमीशन स्वीकार करना;

8. यदि किसी मजिस्ट्रेट की, साक्ष्य को देखते हुए, यह राय है कि इस मामले का

विचारण मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा किया जाना चाहिए अथवा जहां विचारण करने वाला मजिस्ट्रेट पर्याप्त कठोर दंड देने में अक्षम है, वहां ऐसे मामलों को विचारण के लिए स्वीकार करना;

9. ऐसे किसी मामले को जो उसने अपने अधीनस्थ किसी मजिस्ट्रेट को सौंपा था, वापस अपने यहां लेना।

कार्यपालक मजिस्ट्रेटों की शक्तियां

न्यायिक और कार्यपालक मजिस्ट्रेटों के बीच जो अंतर है, वह मूलतया उनकी नियुक्ति की विधि तथा उत्तरदायित्व में निहित है :

1. जहां न्यायिक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति उच्च न्यायालय द्वारा की जाती है, कार्यपालक मजिस्ट्रेट उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।
2. जहां न्यायिक मजिस्ट्रेट मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के माध्यम से सत्र न्यायाधीश के नियंत्रण में और अंततः उच्च न्यायालय के नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण में होते हैं, कार्यपालक मजिस्ट्रेट जिला मजिस्ट्रेट के अधीनस्थ होते हैं, जो स्पष्ट है, कि राज्य सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण में काम करता है।

किंतु कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया कोई भी आदेश उच्च न्यायालय अथवा सत्र न्यायाधीश की पुनरीक्षण अधिकारिता के अधीन होता है।

नई संहिता के अंतर्गत कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को प्रदत्त शक्तियां प्रशासनिक या अधिक-से-अधिक न्यायिक-कल्प हैं। उदाहरण के लिए :

1. अपनी उपस्थिति में किए गए अपराधों के लिए गिरफ्तारी;
2. पुलिस द्वारा बिना वारंट के गिरफ्तार किए गए व्यक्तियों का नियंत्रण;
3. न्यायालय के आदेशों के अधीन वारंट का निष्पादन;
4. अन्वेषण आदि के लिए आवश्यक किसी वस्तु को पहुंचाने के लिए डाक अधिकारी को आदेश देने की शक्ति;
5. तलाशी वारंट जारी करना और अपनी उपस्थिति में तलाशी का निदेशन;
6. अपहृत स्त्रियों की वापसी के लिए विवश करना;
7. दोषसिद्धि के अलावा अन्य मामलों में शांति बनाए रखने के लिए जमानत देने का आदेश और जमानत देने में व्यतिक्रम होने की दशा में कारावास का आदेश देना;
8. न्यूसेंस अथवा संकट की आशंका अथवा स्थावर संपत्ति के बारे में विवाद अथवा भूमि या जल से संबंधित विवाद के मामलों में निषेधात्मक आदेश जारी करना;

9. आत्महत्या, दुर्घटना अथवा संदेहास्पद मृत्यु के मामलों में मृत्यु समीक्षा करना;
10. साक्षियों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालने की शक्ति;
11. परिवाद करना;
12. शपथपत्र किसी न्यायाधीश अथवा मजिस्ट्रेट के समक्ष दाखिल किया जा सकता है;
13. स्थानीय निरीक्षण की शक्ति;
14. धारा 411 के अधीन किसी मामले का अंतरण अथवा उसकी वापसी;
15. ऐसी संपत्ति का निपटारा जिसे पुलिस ने कब्जे में लिया हो पर जो दांडिक न्यायालय के समक्ष पेश न की गई हो;
16. दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 444 के अधीन प्रतिभुओं की उन्मुक्ति;
17. दंड प्रक्रिया सहिता, 1973 की धारा 107 के साथ पठित धारा 446(1) के पैरा 2 के अधीन बंधपत्रों को जब्त करने और जुर्माना करने की शक्ति।

दांडिक न्यायालयों के अधिकारी

लोक अभियोजक

अधीनस्थ न्यायालयों से लेकर उच्च न्यायालय तक, सभी दांडिक न्यायालयों में राज्य अथवा केंद्र सरकार की ओर से अभियोजन जिन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, वे लोक अभियोजक कहलाते हैं। ये अर्हताप्राप्त अधिवक्ता होते हैं जिनकी नियुक्ति केंद्र सरकार, राज्य सरकारों तथा न्यायालयों द्वारा की जाती है।

लोक अभियोजकों के निम्नलिखित वर्ग हैं :

1. केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त लोक अभियोजक;
2. राज्य सरकार द्वारा नियुक्त लोक अभियोजक;
3. केंद्र अथवा राज्य सरकार द्वारा नियुक्त अतिरिक्त लोक अभियोजक;
4. केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त विशेष लोक अभियोजक;
5. विशेष मामलों तथा विशिष्ट अवधि के लिए राज्य सरकार नियुक्त विशेष लोक अभियोजक।

राज्य सरकार और साथ ही, केंद्र सरकार किसी जिले में मजिस्ट्रेटों के न्यायालय में अभियोग चलाने के लिए एक या अधिक सहायक लोक अभियोजकों की नियुक्ति भी करती है। इनके वेतन और सभी भत्तों का संदाय केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। इन अभियोजकों की अर्हताएं तथा नियुक्ति का तरीका और विधि दंड प्रक्रिया संहिता में निर्धारित की गई है। इन्हें एक विशिष्ट अवधि के लिए नियुक्त किया जा सकता है, इनका कार्यकाल बढ़ाया जा सकता है और निर्धारित प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए कार्यकाल

की समाप्ति पर या उससे पहले अथवा बाद में, पदमुक्त किया जा सकता है। लोक अभियोजक से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह लोगों को सताएगा। सिद्धांततः वह राज्य की ओर से, जिसके नाम में सभी कार्रवाइयां संचालित होती हैं, उपस्थित होता है। यह अपेक्षा की जाती है कि लोक अभियोजक अपने कर्तव्यों का निर्वाह उचित रूप से और निर्भय होकर तथा अपने पद के उत्तरदायित्व को पूरी तरह समझते हुए करेगा। उसका उद्देश्य न्यायालय की मामले की सचाई तक पहुंचने में सहायता करना है। आदर्श लोक अभियोजक को दोषसिद्धि अथवा जिन सरकारी विभागों का वह प्रतिनिधित्व कर रहा है, उन्हें संतुष्ट करने से सरोकार नहीं होता। वे तो न्याय कराने वाले हैं। उन्हें दंडित करने की कोई अनुचित उत्सुकता, अपनी ओर से, प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए। लोक अभियोजक के रूप में उनका कर्तव्य अभियुक्त को किसी भी कीमत पर दंड दिलाना नहीं है बल्कि न्यायालय के सामने जो भी साक्ष्य उनके पास हो उसे प्रस्तुत करना है, चाहे वह अभियुक्त के पक्ष में हो अथवा उसके विरुद्ध हो। इसके बाद उन्हें यह न्यायालय पर छोड़ देना चाहिए कि वह उस साक्ष्य के आधार पर निर्णय करे कि अभियुक्त ने कथित अपराध किया था अथवा नहीं। लोक अभियोजक न्यायालय के अधिकारी हैं और न्यायालय में विधि व्यवसाय करने वाले किसी अन्य अधिवक्ता के समान ही न्यायालय के प्रति उनका दायित्व है कि वे उचित और न्यायसम्मत व्यवहार करें। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे मन लगाकर और उत्साह के साथ अभियोजन करेंगे और अपनी न्यायोचित तथा सुविचारित सम्मति तथा विवेकबुद्धि के उचित प्रयोग से न्यायालय की सहायता करेंगे।

सिविल न्यायालय
अनुक्रम तथा प्रक्रिया

विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय ही शिखर संस्था है। उच्च न्यायालयों को सिविल/दांडिक आरंभिक तथा अपीली अधिकारिता है। यदि कहीं उच्च न्यायालयों को आरंभिक अधिकारिता प्रदान नहीं की गई है तो वहां सभी वाद जिला न्यायालयों में दायर करने होते हैं। सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन राज्य के प्रत्येक जिले में जिला न्यायालय की स्थापना की गई है।

प्रत्येक राज्य में सिविल न्यायालयों के तीन स्तर हैं। निचले स्तर पर उप न्यायाधीश/अधीनस्थ न्यायाधीश तृतीय श्रेणी (जिसे मुंसिफ भी कहते हैं) और उप न्यायाधीश द्वितीय श्रेणी होते हैं। वस्तुतया ये दोनों एक ही श्रेणी में आते हैं किंतु विवादग्रस्त रकम, जिस पर उनकी अधिकारिता होती है, भिन्न है। इनके ऊपर अधीनस्थ सिविल न्यायाधीश, प्रथम श्रेणी, का न्यायालय है जिसकी धन संबंधी अधिकारिता प्रायः असीमित होती है। कुछ मामलों में इन न्यायाधीशों के पास अपीली अधिकारिता भी होती है। सिविल न्यायाधीश, प्रथम श्रेणी, के ऊपर जिला न्यायाधीश या अतिरिक्त जिला न्यायाधीश का न्यायालय होता है जिसे अधीनस्थ न्यायाधीशों के आदेशों और निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है। राज्यों के सभी न्यायालय उच्च न्यायालय के अधीन होते हैं और प्रत्येक जिले का सर्वोच्च न्यायालय जिला न्यायालय होता है।

जिला न्यायाधीश/अतिरिक्त जिला न्यायाधीश और प्रथम श्रेणी के अधीनस्थ न्यायाधीश को दावे के मूल्य की सीमा के बिना सभी दावों की सुनवाई करने का अधिकार है। जहां तक अधीनस्थ निचले न्यायालयों का प्रश्न है, उनकी अधिकारिता पूर्णतया दावों के मूल्य पर निर्भर करती है। अधिकारिता की दृष्टि से, इसका परिकलन वाद मूल्यांकन अधिनियम के उपबंधों और उसके नियमों के अनुसार किया जाता है। भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, उत्तराधिकार अधिनियम आदि की कार्रवाइयां केवल जिला न्यायालयों में ही चलाई जा सकती हैं। लेकिन जहां राज्य सरकार ने अधिसूचना जारी करके संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम तथा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम जैसे अधिनियमों के मामलों में अधीनस्थ न्यायाधीशों को विशेष रूप से शक्तियां प्रदान की हैं, वहां ये न्यायालय इन कार्रवाइयों को स्वीकार करके उनका विचारण कर सकते हैं।

जैसी कि सिविल प्रक्रिया संहिता में व्यवस्था दी गई है, प्रत्येक वाद किसी न्यायालय में उसकी सुनवाई की अधिकारिता और जिस स्थान पर वाद हेतुक घटा है, उसके अनुसार संस्थित किया जाता है। सामान्यतया, वाद उस न्यायालय में संस्थित किया जाता है जिसकी अधिकारिता में एक अथवा एकाधिक प्रतिवादी वस्तुतया एवं स्वेच्छा से निवास करते हैं

या अपना कारोबार करते हैं अथवा लाभ के लिए व्यक्तिगत रूप से कार्य करते हैं या जहां वाद हेतुक पूर्णतः अथवा अंशतः उत्पन्न होता है।

लघु वाद न्यायालय

कुछ न्यायालय 'लघु वाद न्यायालय' कहलाते हैं जो दिल्ली, मुंबई, कलकत्ता और मद्रास जैसे प्रेसिडेंसी नगरों में प्रेसिडेंसी लघु वाद न्यायालय अधिनियम, 1887 द्वारा शासित हैं। लघु वाद न्यायालयों की अधिकारिता किसी स्थान के ऊपर हो सकती है जहां वाद की विषयवस्तु का मूल्य कम हो, उदाहरण के लिए दिल्ली में 1000 रु. तक के वाद और मुंबई में 10,000 रु. तक के वादों की सुनवाई ये न्यायालय कर सकते हैं। इन राशियों का निर्धारण राज्य सरकार द्वारा समय समय पर किया जाता है।

जिला न्यायाधीश अपनी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर अवस्थित सभी सिविल न्यायालयों का प्रशासनिक नियंत्रण करता है। वह अधीनस्थ न्यायाधीशों के आदेशों और डिक्रियों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई भी करता है। किंतु सिविल न्यायालयों को उन मामलों पर अधिकारिता नहीं है जिन्हें विधान मंडल ने विभिन्न अधिनियमों के द्वारा अपवर्जित कर दिया है जैसे कि, औद्योगिक विवाद अधिनियम, कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम, मोटर यान अधिनियम आदि के अधीन विवाद। सिविल न्यायालयों को भूमि संबंधी ऐसे मामलों के विचारण का अधिकार भी नहीं है जो केवल राजस्व न्यायालयों की अधिकारिता में आते हैं। इसी प्रकार वे विभिन्न राज्यों की भू-राजस्व संहिताओं में उल्लिखित वादों तथा विवादों पर भी विचार नहीं कर सकते।

अपीलें

प्रथम श्रेणी के ज्येष्ठ उप-न्यायाधीशों को निम्नलिखित मामलों में अपील सुनने की शक्ति है :

1. लघु वाद न्यायालय की 1000 रु. तक के मूल्य की डिक्री और आदेश के विरुद्ध।
2. भूमि संबंधी वादों में जहां वाद-मूल्य 250 रु. से अधिक नहीं है; अपील की सुनवाई के समय, ऐसे ज्येष्ठ उपन्यायाधीश का न्यायालय अपील के प्रयोजन के लिए जिला न्यायालय माना जाता है। इसके अपील आदेशों के विरुद्ध दूसरी अपील केवल उच्च न्यायालय में की जा सकती है।

अन्य सभी मामलों में, अधीनस्थ न्यायालयों की डिक्रियों और आदेशों के विरुद्ध अपील प्रायः जिला न्यायालय में की जा सकती है। कुछ राज्यों में, एक निश्चित राशि तक की अपील जिला न्यायालय में की जा सकती है और यदि राशि उससे अधिक है तो नियमित प्रथम अपील सीधे उच्च न्यायालय में सुनी जाएगी। ज्येष्ठ उप-न्यायाधीश, प्रथम श्रेणी, से अपील उच्च न्यायालय में होती है। इसी प्रकार, जिला न्यायालयों तथा अतिरिक्त जिला

न्यायालयों के मौलिक आदेशों और निर्णयों के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में सुनी जाती है।

जिला न्यायालय के आदेश/निर्णय के विरुद्ध दूसरी अपील भी उच्च न्यायालय द्वारा सुनी जाती है यदि उच्च न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि (क) इस मामले में विधि का कोई सारवान प्रश्न अंतर्वलित है और (ख) यह अपील किसी एकपक्षीय अपीली डिक्री के विरुद्ध है।

अपील के ज्ञापन में अपील में अंतर्वलित विधि के सारवान प्रश्न का सुस्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। उच्च न्यायालय दूसरी अपील तभी विचारार्थ स्वीकार करेगा जबकि उसे ग्रहण करते समय ही उसका यह समाधान हो जाए कि इसमें विधि का कोई सारवान प्रश्न अंतर्वलित है।

उच्च न्यायालय में कोई और अपील नहीं

यदि उच्च न्यायालय का कोई एक न्यायाधीश किसी अपीली डिक्री या आदेश के विरुद्ध अपील की सुनवाई करके अपना निर्णय दे देता है तो उस एकल न्यायाधीश के ऐसे निर्णय अथवा आदेश के विरुद्ध या ऐसी अपील में पारित किसी डिक्री के विरुद्ध कोई और अपील नहीं की जा सकती। व्यथित पक्ष संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में हमेशा जा सकता है।

पुनरीक्षण

सिविल प्रक्रिया संहिता (धारा 115) में यह व्यवस्था है कि उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ किसी न्यायालय द्वारा निर्णीत किसी ऐसे मामले का अभिलेख मंगा सकता है जिसकी कोई अपील नहीं की जा सकती है और ऐसा प्रतीत होता है कि :

1. अधीनस्थ न्यायालय ने ऐसी अधिकारिता का प्रयोग किया है जो उस विधि द्वारा प्रदत्त नहीं है, या
2. अधीनस्थ न्यायालय इस प्रकार प्रदत्त अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा है, या
3. अधीनस्थ न्यायालय ने अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते समय अवैध रूप से अथवा तात्विक अनियमितता के साथ कार्य किया है।

उच्च न्यायालय ऐसे मामले में ऐसा आदेश कर सकता है, जो वह ठीक समझे।

अधीनस्थ न्यायालय

इस धारा के अधीन उच्च न्यायालय को तब तक पुनरीक्षण करने की शक्ति नहीं होती जब तक कि मामले का निर्णय किसी सिविल न्यायालय ने न किया हो और वह न्यायालय

उच्च न्यायालय के 'अधीनस्थ' न हो। यदि उच्च न्यायालय का एक ही न्यायाधीश किसी मामले की सुनवाई कर रहा है तो वह उच्च न्यायालय का अधीनस्थ नहीं माना जाता बल्कि वह उच्च न्यायालय को निर्दिष्ट कार्य का निष्पादन करता है। इसलिए उसके निर्णय का पुनरीक्षण नहीं किया जा सकता। लेटर्स पेटेंट के अधीन अपील की सुनवाई करने वाली पीठ के संदर्भ में जहां उच्च न्यायालय का एकल न्यायाधीश 'निचला न्यायालय' होता है वहां उपर्युक्त धारा के अर्थ में वह उच्च न्यायालय का 'अधीनस्थ न्यायालय' नहीं होता।

अपील और पुनरीक्षण के उपबंध के अलावा, संहिता में निर्णय या डिक्री के पुनर्विलोकन से संबंधित उपबंध भी हैं। संहिता की धारा 114 और आदेश 47 में वे परिस्थितियां दी गई हैं जिनमें पुनर्विलोकन हो सकता है। ये हैं :

1. किसी डिक्री या आदेश से जिसके विरुद्ध संहिता में अपील करने की अनुमति है, किंतु ऐसी कोई अपील की नहीं गई है;
2. किसी ऐसी डिक्री या आदेश से जिसके विरुद्ध अपील की अनुमति संहिता ने नहीं दी है, या
3. किसी लघुवाद न्यायालय से आए निर्देश पर निर्णय से।

न्यायालय की पुनर्विलोकन की अधिकारिता संहिता के आदेश 47 में उल्लिखित आधारों तक सीमित है जो बहुत थोड़े-से हैं अर्थात किसी नई तथा महत्वपूर्ण सामग्री अथवा साक्ष्य का पता चलने के आधार पर, जो सम्यक तत्परता बरतने के बाद, पक्ष की जानकारी में नहीं थी अथवा डिक्री/आदेश पारित करते समय पेश नहीं की जा सकी अथवा अभिलेख को देखते ही पता लग जाने वाली किसी गलती या त्रुटि के कारण, उदाहरणार्थ यदि किसी अधिनियम अथवा उच्चतम न्यायालय के निर्णय की ओर ध्यान न गया हो अथवा किसी लोक दस्तावेज की उपेक्षा हो गई हो।

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 109 के अधीन निम्नलिखित मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकने की भी व्यवस्था है। किसी सिविल कार्रवाई में उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, डिक्री या अंतिम आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है, यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे :

1. कि इस मामले में सार्वजनिक महत्व की विधि का कोई सारवान प्रश्न अंतर्वलित है, और
2. यह कि उच्च न्यायालय की राय में यह आवश्यक है कि इस प्रश्न का निर्णय उच्च न्यायालय करे।

यह उपबंध भारतीय संविधान के अनुच्छेद 132, 133 और 136 के उपबंधों से स्वतंत्र है।

न्यायालयों में प्रयोज्य भाषा

भारत के संविधान में कहा गया है कि उच्च न्यायालय और भारत के उच्चतम न्यायालय में प्रयुक्त भाषा अंग्रेजी है। लेकिन विविध राज्यों ने इस व्यवस्था में संशोधन किए हैं जिनके परिणामस्वरूप अब उच्च न्यायालय राज्य सरकारों द्वारा जारी की गई अधिसूचनाओं में निर्दिष्ट स्थानीय भाषाओं का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार, अधीनस्थ न्यायालयों की कार्रवाइयों और निर्णयों में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जा सकता है।

सिविल प्रक्रिया संहिता 1908

सिविल न्यायालयों की कार्रवाई का विनियमन एक अत्यंत विस्तृत अधिनियम द्वारा होता है जिसे सिविल प्रक्रिया संहिता कहते हैं, जिसमें भिन्न भिन्न धन संबंधी और राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता वाले सिविल न्यायालयों में वाद संस्थित किए जाने के बारे में उपबंध हैं। जब तक उनकी अधिकारिता में कमी न कर दी जाए अथवा उसे निराकृत न कर दिया जाए तक तक सिविल न्यायालय प्रत्येक प्रकार के सिविल विवाद का निर्णय करने में सक्षम न्यायालय हैं—ये विवाद चाहे व्यक्तियों के बीच हों, व्यक्तियों और लोक प्राधिकारियों के बीच हों, ये प्राधिकारी भारत सरकार के हों चाहे राज्य सरकारों के अथवा विधि द्वारा गठित या विरचित किसी अन्य प्राधिकारी से संबंधित हों। सभी सिविल मामलों में, केंद्र सरकार और साथ ही, राज्य सरकारें भी सिविल न्यायालयों की अधिकारिता में आती हैं। किसी सिविल न्यायालय में सिविल वाद संस्थित करने के लिए वाद पत्र किस रूप में प्रस्तुत किया जाएगा और उसकी अंतर्वस्तु क्या होगी, इसे सिविल प्रक्रिया संहिता में विस्तारपूर्वक दिया गया है। इस संहिता में विभिन्न प्रकार के वादों के संबंध में सिविल न्यायालयों की अधिकारिता को परिनिश्चित किया गया है—उदाहरण के लिए, सरकार या अधिकाधिक हैसियत में कार्यरत लोक अधिकारियों द्वारा अथवा उनके विरुद्ध वाद, अन्यदेशीय लोगों अथवा विदेशी शासकों, राजदूतों और दूतों द्वारा या उनके विरुद्ध वादों, लोक न्यूसेंस तथा जनता को प्रभावित करने वाले सदोष कृत्य जैसे विभिन्न मामलों से संबंधित वाद, और लोक पूर्त कर्म आदि से संबंधित वाद आदि पर विशेष प्रकार से कार्रवाई की जाती है।

वादपत्र फाइल होने के बाद, जिसमें वाद हेतुक और संगत तथ्य संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से दिए जाने चाहिए, न्यायालय के आदेशिका द्वारा प्रतिवादी अथवा प्रतिवादियों को नोटिस दिया जाता है और तब उन्हें अपना उत्तर देने के लिए, जिसे लिखित कथन कहते हैं, पर्याप्त समय तथा अवसर दिया जाता है। अगर लिखित कथन में वाद में उल्लिखित दावे को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकार कर लिया जाता है तो वाद ग्रहण करते समय तत्काल डिक्री पारित की जा सकती है; अन्यथा न्यायालय को वादग्रस्त पक्षों के बीच विवाद्यक अर्थात विवादित बातों का अवधारण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वादी तथा प्रतिवादी

के बीच के विवाद को एक संक्षिप्त प्रश्न का रूप दे दिया जाता है जिसका उत्तर न्याधीश वाद के विचारण की समाप्ति पर देता है।

सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन, कोई मामला निम्नलिखित मुख्य चरणों से जाता है :

1. वादपत्र या आवेदन दिए जाने के साथ कार्रवाई का प्रारंभ;
2. प्रतिवादियों या प्रत्यर्थियों को न्यायालय द्वारा नोटिस या समन जारी होना; प्रतिवादी या प्रत्यर्थी द्वारा न्यायालय में हाजिरी और उसके द्वारा लिखित कथन या उत्तर दाखिल किया जाना;
3. पक्षों के बीच विवाद के बिंदुओं की, जिन्हें 'विवाद्यक' कहते हैं, विरचना;
4. वादी/प्रार्थी, प्रतिवादी/प्रत्यर्थी के साक्ष्य का अभिलेखन; और अंत में
5. न्यायालय द्वारा निर्णय सुनाया जाना।

इन मोटे चरणों के बीच, विचारण वस्तुतया तब शुरू होता है जव विवाद्यकों की विरचना कर ली जाती है। उससे पहले कई मध्यवर्ती चरण आते हैं। जिन्हें विचारण-पूर्व चरण कहा जा सकता है। ये चरण विचारण-पूर्व केवल इसलिए हैं कि ये विचारण की तैयारी के तौर पर हैं और इनका उद्देश्य विवाद के क्षेत्र को कम करना है। ये अंतर्वर्ती कार्रवाइयां न्यायालय से निम्नलिखित बातों के लिए आदेश लेने से संबंधित होती हैं :

1. परिप्रश्न करना और उनके उत्तर देना;
2. दस्तावेजों और तथ्यों की स्वीकृति और नकार;
3. दस्तावेजों का प्रकटीकरण, निरीक्षण तथा पेश किया जाना;
4. अस्थायी व्यादेश और रिसीवर या कमिश्नर की नियुक्ति।

इस प्रकार, न्यायालय के अंदर किए जाने वाले विचारण के अतिरिक्त, न्यायालय के काम का एक भाग न्यायालय द्वारा नियुक्त कमिश्नर के द्वारा कराया जा सकता है। कमिश्नर साक्ष्य का अभिलेखन कर सकता है, स्थानीय अन्वेषण कर सकता है, लेखाओं की जांच और समायोजन कर सकता है, विभाजन करा सकता है, तकनीकी, वैज्ञानिक अथवा विशेषज्ञतापूर्ण जांच कर सकता है, शीघ्र और सहज रूप से विनष्ट होने वाली संपत्ति की बिक्री करा सकता है और कोई भी अनुसचिवीय कार्य संपन्न कर सकता है। देश के भीतर के किसी अन्य न्यायालय के नाम भी कमीशन जारी किया जा सकता है और भारत के बाहर स्थित न्यायालयों को निवेदन पत्र भेजा जा सकता है। निर्धारित प्रक्रिया किसी अड़ियल व्यक्ति या प्रतिवादी की गिरफ्तारी का वारंट जारी करने या उसे जमानत देने का आदेश देने की अनुमति भी देती है। ये कार्रवाइयां और शक्तियां केवल किसी विशिष्ट न्यायालय के समक्ष लंबित विवाद के लिए ही नहीं अमल में लाई जातीं बल्कि माध्यस्थम् की कार्रवाइयों में सहायता करने के लिए भी प्रयोग की जाती हैं क्योंकि न्यायालय के समान माध्यस्थम्

के पास ऐसी कोई शक्तियां नहीं होतीं। इसीलिए माध्यस्थम् अधिनियम में विशेष रूप से इस बात का उपबंध है कि मध्यस्थ किसी समुचित सिविल न्यायालय से निवेदन करके ऐसे अंतर्वर्ती आदेश प्राप्त कर सकता है।

वाद की पहली सुनवाई पर न्यायालय को प्रत्येक पक्ष अथवा उसके वकील से यह पूछना होता है कि वह वादपत्र या विरोधी पक्ष के लिखित कथन में दिए गए तथ्य के अभिकथनों को स्वीकार करता है या नकारता है। यही प्रश्न उन अभिकथनों के बारे में भी किया जाता है जो विरोधी पक्ष ने किए हैं पर दूसरे पक्ष ने उन्हें स्पष्टतः अथवा आवश्यक विवक्षा के द्वारा स्वीकारा अथवा नकारा नहीं है। उपर्युक्त से यह ज्ञात होता है कि विचारण से पहले, जबकि साक्ष्य का अभिलेखन आरंभ होता है अंतर्वर्ती आदेश के लिए समावेदन किए जा सकते हैं। ये आदेश एकपक्षीय भी हो सकते हैं और विरोधी पक्ष को नोटिस देकर भी। सामग्रियां अभिवचनों और साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। उपर्युक्त प्रक्रिया देश भर के सिविल न्यायालयों में समान रूप से अपनाई जाती है। विचारण, वाद या आवेदन (उदाहरण के लिए माध्यस्थम्, अधिनियम के अधीन माध्यस्थम् करार को फाइल करने और/या मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए आवेदन) करने के साथ आरंभ होता है और खुले न्ययायालय में निर्णय सुनाए जाने के साथ समाप्त होता है।

न्यायाधीश की भूमिका सामान्यतया केवल एक निष्पक्ष प्रेक्षक की ही नहीं होती बल्कि एक सक्रिय व्यक्ति की होती है जो खेल के नियमों को लागू करता है। किंतु इस बात पर गंभीर विवाद है। कुछ न्यायाधीश ऐसे होते हैं जो 'क्रियाशील न्यायाधीश' बनने में विश्वास करते हैं जबकि अन्य न्यायाधीशों को विवाद के क्षेत्र में प्रवेश करने की तनिक भी इच्छा नहीं होती। क्रियाशील न्यायाधीश पक्षों के बीच सकारात्मक और प्रभावी न्याय देने के लिए अपनी शक्ति, प्राधिकार और प्रभाव का प्रयोग करने में विश्वास रखते हैं। इसके लिए वे साक्षी से प्रश्न पूछकर और वकीलों को आक्रमण या प्रतिरक्षा का ऐसा तरीका सुझाकर जिसे वे वैध, न्यायपूर्ण और उचित समझते हैं, कुछ सीमा तक, विवाद के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। वे पक्षों को शांतिपूर्वक अपना विवाद सुलझाने के लिए 'राजी' करने के प्रयास भी कर सकते हैं।

सामान्यतया, विचारण आरंभ होने के काफी पहले और विवाद्यकों की विरचना के बाद साक्षियों के नाम और पते देने होते हैं। न्यायालय को यह शक्ति है कि वह समन जारी करके साक्षियों को हाजिर होने के लिए विवश कर सके और यदि वे समन की अवज्ञा करें तो उनकी गिरफ्तारी का वारंट जारी कर सके। जब साक्षी हाजिर होता है तो जिस पक्ष ने उसे बुलाया है, वह उसकी 'मुख्य' परीक्षा करता है; इसके पश्चात दूसरे पक्ष को उसकी प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार है। इस प्रक्रिया में विचारण भारतीय साक्ष्य अधिनियम द्वारा शासित होता है। साक्षी से, बिना आपत्ति के, कौन-से प्रश्न किए जा सकते

हैं और कौन-सी बातें संगत हैं, इसको लेकर कठोर नियम बने हैं। जैसा कि पिछले पैरा में संकेत किया जा चुका है, कुछ न्यायाधीश न्याय के हित में कभी कभी साक्षी से स्वयं कुछ प्रश्न करते हैं। यदि कोई साक्षी जानबूझ कर उस पक्ष के विरुद्ध साक्ष्य देने लगता है जिसने उसे बुलवाया था तो उस साक्षी को 'पक्षद्रोही' घोषित कर दिया जाता है। ऐसे मामले में और तब जबकि किसी साक्षी को न्यायालय ने न्यायालयिक साक्षी के रूप में बुलाया हो, दोनों पक्षों को साक्षी की प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार है।

कार्रवाई की प्रकृति को देखते हुए, साक्ष्य अक्षरशः लेखबद्ध की जाती है या केवल सार रूप में। सामान्यतया, यदि न्यायालय में इसकी सुविधा उपलब्ध हो तो साक्ष्य आशुलिपि में लिखी जाती है वरना इसे सामान्य लिपि में लिखते हैं। इसे आमतौर पर साक्षी की भाषा में अभिलिखित किया जाता है पर कभी कभी इसे अंग्रेजी या न्यायालय की स्थानीय भाषा में अनुवाद करके भी अभिलिखित करते हैं। साक्ष्य को टेप-रिकार्ड करने की सुविधा अभी तक न्यायालयों में उपलब्ध नहीं है। न्यायालय के कक्ष में कैमरा या अभिलिखित करने की किसी अन्य युक्ति को ले जाने की अनुमति है। साक्ष्य अभिलिखित हो जाने पर दोनों पक्ष आमतौर पर उसकी प्रतियां प्राप्त कर लेते हैं ताकि बहस के वक्त उनसे सहायता मिल सके। बहसें सुनने के बाद, जो कभी कभी कई दिनों तक चलती रहती हैं, न्यायाधीश या तो उसी समय खुले न्यायालय में निर्णय लिख देता है या निर्णय बाद में दिए जाने की घोषणा कर देता है। ऐसा होने पर बाद में प्रायः न्यायालय की दैनिक वाद-सूची में वाद के उल्लेख के द्वारा संबंधित पक्षों के वकीलों को सूचित करके निर्णय की घोषणा खुले न्यायालय में की जाती है। प्रत्येक विवाद्यक पर निष्कर्ष देते हुए निर्णय दिया जाता है और अंत में निष्कर्ष होता है जिसे 'डिक्री' कहते हैं। सामान्यतया प्रत्येक निर्णय के विरुद्ध तीन या चार अपीलें करने के अवसर होते हैं। अधीनस्थ न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय में ही अंततः न्यायालय अपील हो सकती है और अंततः उच्चतम न्यायालय में साधिकार या विशेष इजाजत लेकर अपील की जा सकती है। न्यायालय का परिसर विधि के अनुसार एक सार्वजनिक स्थान है जहां जनता का कोई सदस्य शांत एवं अनुशासित ढंग से बैठकर न्यायालय की कार्रवाई देख और सुन सकता है। कभी कभी वैवाहिक अथवा गुप्तचरी आदि के मामलों में न्यायालय की कार्रवाई बंद कमरे में की जा सकती है।

विदेशी राज्यों और सरकारों के विरुद्ध वाद (संप्रभु उन्मुक्ति के आधार पर छूट)

सिविल न्यायालयों को उन व्यक्तियों पर जो भारत के निवासी हैं और उन वादों पर जिनका विषय न्यायालय के अधीन है, अधिकारिता है। किंतु विदेशी शासक, राजदूत और अन्य अधिकारी ऐसी श्रेणी के व्यक्ति हैं जिनके विरुद्ध न्यायालय में वाद तब तक नहीं लाया

जा सकता जब तक कि केंद्र सरकार की सहमति न हो, जिसका लिखित प्रमाण सरकार के सचिव ने दे दिया हो या फिर वह पक्ष स्वेच्छा से न्यायालय की अधिकारिता के अधीन होना स्वीकार न कर ले।

धारा 86 में कहा गया है कि कोई न्यायालय केंद्र सरकार की सहमति के बिना, जिसे लिखित रूप में सरकार के सचिव ने प्रमाणित किया हो, किसी वाद के विचारण के लिए अन्यथा सक्षम होने पर भी, किसी विदेशी राज्य के विरुद्ध वाद विचारार्थ स्वीकार नहीं कर सकता।

खर्चा

सिविल मामलों में कोई आदेश या डिक्री पारित करते समय न्यायालय को खर्चा दिलाने का विवेकाधिकार है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 35 में कहा गया है कि विहित शर्तों और सीमाओं तथा तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी वादों का खर्चा और व्यय-भार न्यायालय के विवेकाधीन होगा और न्यायालय को अवधारण करने की पूरी शक्ति है कि खर्चे का कौन, किस संपत्ति से तथा किस सीमा तक संदाय करेगा और वह इस प्रयोजन के लिए सभी आवश्यक निर्देश दे सकेगा।

'इस वाद के खर्च' अभिव्यक्ति का अर्थ हैं वाद में उपगत सभी खर्चे। इसलिए यदि एक प्रतिवादी को वादी का खर्च संदाय करने का आदेश दिया जाता है और उसके साथ कोई प्रतिबंधक शब्द नहीं जोड़े जाते तो 'खर्च' में वे खर्चे भी सम्मिलित माने जाएंगे जो वादी ने किसी अन्य प्रतिवादी को पक्षकार बनाने पर किए हैं जिसके विरुद्ध वाद खर्च सहित खारिज किया गया है। इस प्रकार 'खर्च' शब्द में वाद के सभी अनुषंगी खर्च शामिल हैं।

यदि किसी मामले में विधि पहली बार तय हुई है, यदि वाद इसलिए उत्पन्न हुआ था कि विधि स्पष्ट नहीं थी, यदि अपीलकर्ता अपने वाद के अंश पर बल नहीं देता, यदि मामले में विधि के महत्वपूर्ण प्रश्न अंतर्वलित हैं जिन पर निर्णय होना है, यदि वाद परीक्षण-वाद (टेस्ट केस) हो और प्रत्यर्थी को संघर्ष का आघात सहना पड़ा है, यदि प्रश्न किसी हाल की विधि की व्यवस्था से संबंधित है या यदि न्यायालय ने किसी भ्रांतिपूर्ण न्यायिक स्थिति का स्पष्टीकरण किया है तो वहां न्यायालय दोनों पक्षों को अपने अपने खर्चों को वहन करने का आदेश दे सकता है।

इसके पीछे सिद्धांत यह है कि खर्चा घटना का अनुगामी है अर्थात जीतने वाले पक्ष को मुकदमे का खर्च पाने का अधिकार है। किंतु इसमें कई मर्यादाएं और बंधन हैं जो न्यायालय विजयी पक्ष को खर्च मंजूर करते समय अपने ऊपर स्वयं आरोपित करता है। जीतने वाले पक्ष को यद्यपि न्यायालय द्वारा निर्णीत खर्च मिलता है पर इससे उसके द्वारा किए गए खर्च की पूरी तरह प्रतिपूर्ति नहीं होती क्योंकि वास्तविक खर्च न्यायालय द्वारा

दिलवाए गए खर्च से प्रायः अधिक होता है। खर्च का विनिर्धारण उच्च न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार किया जाता है। न्यायालय चाहे तो कार्रवाइयों में प्रत्येक कार्रवाई/वाद के खर्च की रकम बता सकती है अन्यथा विनिर्धारण अधिकारी उच्च न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार इनकी राशि निश्चित करता है। यह खर्चे का विनिर्धारण कहलाता है। प्रत्येक न्यायालय में एक अधिकारी होता है जिसे यदि न्यायालय आदेश पारित करते समय ही खर्च की मात्रा का उल्लेख न कर दे तो उसकी राशि को विनिर्धारित करने का अधिकार होता है।

उच्च न्यायालय

संविधान की प्रथम अनुसूची में उल्लिखित प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय है। अनुच्छेद 215 में 'उच्च न्यायालय' की परिभाषा दी गई है। संसद को यह शक्ति है कि वह दो या अधिक राज्यों के लिए एक सम्मिलित उच्च न्यायालय स्थापित कर सके; इसी शक्ति का प्रयोग करते हुए असम के उच्च न्यायालय को असम और नगालैंड, त्रिपुरा, मणिपुर आदि का सम्मिलित न्यायालय बनाया गया है। उच्च न्यायालय की अधिकारिता राज्य के राज्यक्षेत्र तक ही होती है उसके बाहर नहीं।

सभी उच्च न्यायालय आंगिक दृष्टि से एक ही तंत्र के अभिन्न अंग हैं यद्यपि उनकी क्षेत्रीय अधिकारिताएं परिनिश्चित हैं। कोई उच्च न्यायालय किसी अन्य उच्च न्यायालय से श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकता। संविधान के अधीन सभी उच्च न्यायालयों की प्रतिष्ठा समान है। विभिन्न उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश एक ही परिवार के सदस्य हैं, भले ही उनकी नियुक्ति के समय जिन प्राधिकारियों से परामर्श करना होता है, उनके विषय में किंचित भेद हो। फिर भी, उनका कोई एक अखिल भारतीय संवर्ग नहीं है। प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति एक विशिष्ट उच्च न्यायालय में होती है और उसे अनुच्छेद 222 में अभिव्यक्त उपबंध के आधार पर ही किसी अन्य उच्च न्यायालय में स्थानांतरित किया जा सकता है।

प्रत्येक उच्च न्या[illegible]य एक अभिलेख न्यायालय है जिसका अर्थ यह है कि उसे अपनी अधिकारिता से संबंधित प्रश्नों का अवधारण करने और अपनी अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति प्राप्त है।

एक बार नियुक्त हो जाने पर, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का, चाहे वह अतिरिक्त, कार्यकारी या तदर्थ न्यायाधीश ही क्यों न हो (अनुच्छेद 224-224 क), प्रत्येक ऐसे मामले के निर्णय में जिसकी सुनवाई किसी खंडपीठ ने की है और जिसका वह सदस्य है, एक मत होता है, और इस मामले में मुख्य न्यायमूर्ति को भी, यदि वह उस खंडपीठ का सदस्य था, कोई प्रमुखता नहीं होती। मामले का निर्णय खंडपीठ के सभी न्यायाधीशों के बहुमत के आधार पर होगा। न्यायालय के दो या अधिक अवर न्यायाधीशों द्वारा मुख्य न्यायाधीश के मत को अपने बहुमत से नकार देना कोई असामान्य बात नहीं होती। प्रशासनिक क्षेत्र में, मुख्य न्यायाधीश के कुछ विशेष कार्य एवं शक्तियां होती हैं जो अवर न्यायाधीशों के पास नहीं होतीं।

भारत का उच्चतम न्यायालय देश का अंतिम अपीली न्यायालय है अतः उच्च न्यायालय या उसके किसी न्यायाधीश के निर्णय को उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 132, 133, 134, 135 और 136 के अधीन प्राप्त अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए उलट सकता

है। अपील के प्रयोजन से, संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जो उच्च न्यायालय को उस रूप में उच्चतम न्यायालय का प्रशासनिक दृष्टि से अधीनस्थ बनाती हो जिस रूप में उच्च न्यायालय से नीचे की राज्य न्यायपालिका के सदस्य उच्च न्यायालय के 'अधीनस्थ' हैं।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति तथा उसके पद की शर्तें

उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश और संबंधित राज्य के राज्यपाल से परामर्श करने के उपरांत उसके हस्ताक्षर और मुद्रा से नियुक्त किया जाता है। उच्च न्यायालय का न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक पदासीन रहता है।

उच्च न्यायालय, विधि के प्रश्नों पर, संबंधित राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता है। उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त, यही वह न्यायालय है जिसे संविधान की व्याख्या करने का अधिकार है। जैसा कि सिविल प्रक्रिया संहिता में दिया गया है, उच्च न्यायालयों की आरंभिक अधिकारिता भी है और अपीली अधिकारिता भी।

हमारे संविधान में, जिसमें कुछ आधारभूत रक्षोपाय दिए गए हैं (जिन्हें मूल अधिकार कहा गया है), इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए त्वरित एवं कमखर्च उपाय की व्यवस्था भी की गई है। राज्यों में, उच्च न्यायालयों को मुख्यतया मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए निदेश अथवा रिट जारी करने की नई तथा व्यापक शक्तियां प्रदान की गईं। इसके साथ ही, किसी अन्य प्रयोजन के लिए ऐसे निदेश आदि जारी करने की शक्ति भी सम्मिलित है जिसका प्रत्यक्ष उद्देश्य इस देश के उच्च न्यायालयों को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन लगभग वही दर्जा देना था जो इंग्लैंड में कोर्ट ऑफ किंग्स बैंच को प्राप्त है।

अनुच्छेद 226 के अधीन रिट और आदेश जारी करने की शक्ति भारत के सभी उच्च न्यायालयों को है। उच्च न्यायालय की आरंभिक तथा अपीली, दोनों अधिकारिताओं का विस्तार उस राज्य के भीतर के सभी व्यक्तियों और प्राधिकारियों पर है, जिनमें सरकारें भी आती हैं। संवैधानिक शक्ति होने के कारण, अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति पर कोई अन्य कानूनी उपबंध बंधन नहीं लगा सकता। अनुच्छेद 226 के अधीन दी गई शक्ति में केवल उसमें उल्लिखित रिटें जारी करने की ही शक्ति सम्मिलित नहीं है बल्कि उस प्रकृति के निदेश, आदेश या अन्य रिटें जारी करने की शक्ति भी है।

अनुच्छेद 226 के अधीन प्रदत्त अधिकारिता राजस्व संबंधी मामलों को भी अपनी परिधि में लेती है। भारत शासन अधिनियम में ऐसा नहीं था।

मूल तथा अन्य अधिकारों के प्रवर्तन के लिए यह उपचार यद्यपि बड़े सदाशय से लाया गया था किंतु इसका काफी दुरुपयोग हो रहा है। उच्च न्यायालय में प्रतिदिन बहुत बड़ी संख्या में रिटें फाइल की जाती हैं और कुछ उच्च न्यायालयों में तो एक रिट का

निर्णय होने में दस वर्ष से भी अधिक का समय लग जाता है। रिट के निर्णय पर उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है और उसमें भी दस वर्ष से अधिक का समय लग सकता है।

संसद द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों के द्वारा राज्यों के पुनर्गठन तथा संविधान के अनुच्छेद 3 और 4 तथा अन्य अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाए गए विनियमों के फलस्वरूप उच्च न्यायालयों की संख्या की अद्यतन स्थिति राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता तथा विधि के वे उपबंध जिनके अधीन उनकी स्थापना हुई, इस अध्याय के अंत में दिए गए हैं।

न्यायिक आयुक्त का न्यायालय

गोवा, दमण और दीव तथा दादरा और नागर हवेली के संघ राज्य क्षेत्र के लिए, राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 240 के अधीन बनाए गए गोवा, दमण और दीव (न्यायिक आयुक्त न्यायालय) अधिनियम 1963 के अधीन एक न्यायिक आयुक्त का न्यायालय स्थापित किया गया। बाद में, इसे संविधान के प्रयोजन के लिए, गोवा, दमण और दीव न्यायिक आयुक्त का न्यायालय (उच्च न्यायालय के रूप में घोषणा) अधिनियम, 1964 के अधीन उच्च न्यायालय घोषित कर दिया गया। मुंबई उच्च न्यायालय की एक पीठ की स्थापना से न्यायिक आयुक्त का न्यायालय समाप्त कर दिया गया है। अब गोवा राज्य और दमन, दीव, दादरा और नागर हवेली के लिए मुंबई उच्च न्यायालय है।

उच्च न्यायालय के लिए लोक अभियोजक

नई संहिता ने यद्यपि उच्च न्यायालय की सामान्य आरंभिक आपराधिक अधिकारिता को समाप्त कर दिया है, पर संहिता में उच्च न्यायालय के समक्ष उक्त संहिता के अधीन सभी मामलों और अपीलों के संचालन के लिए एक लोक अभियोजक की नियुक्ति का उपबंध है। अतः इन लोक अभियोजकों पर भी यथासंभव संहिता के सभी सामान्य उपबंध लागू होते हैं।

महाधिवक्ता

महान्यायवादी की तरह, राज्य के सर्वोच्च विधि अधिकारी को महाधिवक्ता कहते हैं। महाधिवक्ता की नियुक्ति राज्य द्वारा की जाती है और वह राज्य सरकार के प्रसाद पर्यंत अपने पद पर रहता है। महाधिवक्ता के अलावा, अपर महाधिवक्ता और सरकारी अधिवक्ता भी होते हैं जो राज्य के न्यायालयों में राज्य और उसके अभिकरणों की ओर से, और कार्य सौंपे जाने पर केंद्र सरकार की ओर से, वादकार्य करते हैं।

क्रम संख्या	*उच्च न्यायालय का नाम*	*वह/वे राज्य जिसके/जिनके लिए इसकी स्थापना की गई है*	*विधि का उपबंध जिसके अंतर्गत स्थापना की गई*	*तारीख*
1	2	3	4	5
1.	इलाहाबाद	उत्तर प्रदेश	संविधान का अनुच्छेद 214(2) (पहले उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के अधीन जारी किए गए लेटर्स पेटेंट के अधीन)	21.1.1950 17.8.1966
2.	आंध्र प्रदेश	आंध्र प्रदेश	राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 65 (पहले आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की स्थापना आंध्र प्रदेश राज्य अधिनियम 1953 की धारा 28 के अधीन हुई थी)	1.11.1956 5.7.1954
3.	गुवाहाटी	असम, नगालैंड, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश	उत्तर-पूर्व क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम 1971 की धारा 28 तथा धारा 32 (पहले असम उच्च न्यायालय की स्थापना असम (सीमा-परिवर्तन) अधिनियम, 1951 के अधीन हुई थी) (नगालैंड राज्य अधिनियम, 1962 के अधीन इसकी अधिकारिता का विस्तार नगालैंड तक कर दिया गया)	21.7.1972 5.4.1958
4.	पटना	बिहार	संविधान का अनुच्छेद 214 (2) (पहले उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के अधीन जारी किए गए लेटर्स पेटेंट के अधीन)	26.1.1950 9.2.1916
5.	गुजरात	गुजरात	मुंबई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 की धारा 28(1)	1.5.1960

क्रम संख्या	*उच्च न्यायालय का नाम*	*वह/वे राज्य जिसके/जिनके लिए इसकी स्थापना की गई है*	*विधि का उपबंध जिसके अंतर्गत स्थापना की गई*	*तारीख*
1	2	3	4	5
6.	केरल	केरल तथा लक्षद्वीप संघ राज्य क्षेत्र	राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 49(2) और धारा 60	1.11.1956
7.	मध्य प्रदेश	मध्य प्रदेश	राज्य पुनर्गठन अधिनियम की धारा 49(1)	1.11.1956
8.	मद्रास	मद्रास तथा पांडिचेरी का संघ राज्य क्षेत्र	संविधान का अनुच्छेद 214 (2) (पहले उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के अधीन जारी लेटर्स पेटेंट से) (आंध्र प्रदेश राज्य अधिनियम, 1953 के अंतर्गत आंध्र के अलग हो जाने पर मद्रास के नए राज्य के लिए बना रहा) पांडिचेरी (प्रशासन) अधिनियम 1962 की धारा 9 के अधीन 6.11.1962 से इसकी अधिकारिता का विस्तार पांडिचेरी पर कर दिया गया)।	26.1.1950 26.6.1862 1.11.1952
9.	मुंबई	महाराष्ट्र (भूतपूर्व बंबई) दादर और नागर हवेली तथा गोवा, दमण और दीव	संविधान का अनुच्छेद 214(2) (पहले उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के अंतर्गत जारी लेटर्स पेटेंट से) (बंबई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 के अंतर्गत महाराष्ट्र राज्य के निर्माण पर महाराष्ट्र के नए राज्य के उच्च न्यायालय के रूप में बना रहा। इस अधिनियम की धारा 41 के अधीन नागपुर और औरंगाबाद में स्थायी पीठ की व्यवस्था की गई)	26.1.1950 26.6.1862 1.5.1960

क्रम संख्या	उच्च न्यायालय का नाम	वह/वे राज्य जिसके/जिनके लिए इसकी स्थापना की गई है	विधि का उपबंध जिसके अंतर्गत स्थापना की गई	तारीख
1	2	3	4	5
10.	कर्नाटक (भूतपूर्व मैसूर)	कर्नाटक	राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 49(2)	1.11.1956
			(पहले संविधान के अनुच्छेद 238(2) के साथ पठित अनुच्छेद 214(2) के अधीन भाग 'ख' राज्य मैसूर का उच्च न्यायालय था। उससे पहले इसे मैसूर का मुख्य न्यायालय और बाद में उच्च न्यायालय कहा जाता था।	26.1.1950
11.	उड़ीसा	उड़ीसा	संविधान का अनुच्छेद 214(2)	26.1.1950
			(पहले भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 229(1) के अंतर्गत)	30.4.1948
12.	पंजाब और हरियाणा	पंजाब और हरियाणा तथा चंडीगढ़ का संघ राज्य क्षेत्र	पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 की धारा 29 और 30	1.11.1966
			(पहले उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के अधीन लेटर्स पेटेंट से स्थापित)	21.3.1919
13.	राजस्थान	राजस्थान	राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 49(2)	1.11.1956
			(पहले संविधान के अनुच्छेद 238(12) के साथ पठित अनुच्छेद 214(2) के अधीन)	26.1.1950
14.	कलकत्ता	पश्चिम बंगाल, अंदमान और निकोबार द्वीप का संघ राज्य क्षेत्र	संविधान का अनुच्छेद 214(2)	26.1.1950
			(पहले उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के अधीन जारी लेटर्स पेटेंट से)	14.5.1862

क्रम संख्या	*उच्च न्यायालय का नाम*	*वह/वे राज्य जिसके/जिनके लिए इसकी स्थापना की गई है*	*विधि का उपबंध जिसके अंतर्गत स्थापना की गई*	*तारीख*
1	**2**	**3**	**4**	**5**
			कलकत्ता उच्च न्यायालय (अधिकारिता का विस्तार) अधिनियम, 1933 के अधीन 2.5.1950 से अधिकारिता का विस्तार अंदमान-निकोबार द्वीप समूह तक कर दिया गया।	
15.	जम्मू-कश्मीर	जम्मू-कश्मीर	संविधान के अनुच्छेद 370 के साथ पठित जम्मू-कश्मीर के संविधान का अनुच्छेद 93(4)	26.1.1957
16.	दिल्ली	दिल्ली का संघ राज्य क्षेत्र	दिल्ली उच्च न्यायालय अधिनियम, 1966	31.10.1966
17.	हिमाचल प्रदेश	हिमाचल प्रदेश	हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 की धारा 21	25.1.1971
18.	सिक्किम	सिक्किम	सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 (संविधान का 36वां संशोधन अधिनियम 1975) के अंतर्गत	26.4.1975

भारत का उच्चतम न्यायालय
शीर्ष न्यायालय

भारत का उच्चतम न्यायालय, परिसंघ न्यायालय का उत्तरवर्ती है और उसे विरासत में उसकी लगभग पूर्ण अधिकारिता प्राप्त हुई है, जिसमें कुछ और शक्तियां जोड़ी गई हैं। उच्चतम न्यायालय को अधिकतम व्यापक न्यायिक अधिकारिता प्राप्त है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने इस बात को समझा था कि मानवों के बीच न्याय के अनुसरण को सुनिश्चित करने का एकमात्र उपाय विधि को सर्वोच्च पद प्रदान करना है; लोकतंत्र के अनुशासित तथा व्यवस्थित विकास को सुनिश्चित करने का भी एकमात्र उपाय यही है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उच्चतम न्यायालय को प्रधान भूमिका सौंपी। इस भूमिका ने उसे विधि की सर्वोच्चता को सत्य सिद्ध करने के लिए उच्चतम प्राधिकार और अधिकतम व्यापक कार्यक्षेत्र प्रदान किया। उच्चतम न्यायालय का उद्‌घाटन 28 जनवरी, 1950 को हुआ। इसे प्राप्त है :

1. संघ तथा उसकी किसी इकाई अथवा एक इकाई और दूसरी इकाई के बीच विवादों पर अनन्य अधिकारिता (संविधान का अनुच्छेद 131);
2. भारत के राज्य क्षेत्रों के बाहर से उत्पन्न मामलों में अनन्य अधिकारिता (अनुच्छेद 131);
3. संघ की क्षमता के भीतर संसद द्वारा यथाविहित अन्य मामलों के विषय में अधिकारिता (अनुच्छेद 138);
4. संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन की अधिकारिता (अनुच्छेद 32);
5. जैसी कि प्रिवी काउंसिल को प्राप्त थी वैसी सामान्य अपीली अधिकारिता (संविधान के अनुच्छेद 132 तथा 133);
6. भारत के राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय अथवा अधिकरण द्वारा किसी वाद अथवा मामले में पारित अथवा दिए गए किसी निर्णय, डिक्री, अवधारण, दंडादेश अथवा दंड के विरुद्ध, विशेष इजाजत से अपीलें ग्रहण करने की विशेष अधिकारिता (जो क्राउन के विशेषाधिकार के समान है) (अनुच्छेद 136);
7. विधि अथवा तथ्यों के किसी प्रश्न पर राष्ट्रपति से प्राप्त निर्देश की सुनवाई करने की परामर्शी अधिकारिता (अनुच्छेद 143);
8. भारत के राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित विवादों का निर्णय करने (संविधान का अनुच्छेद 71 और राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन

अधिनियम, 1952) और संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों के कदाचार की जांच करने (अनुच्छेद 371) की विशेष अधिकारिता।

उच्चतम न्यायालय की स्थापना के साथ, पहली बार, एक सीमित वर्ग के मामलों में आपराधिक अपीलों का निर्णय करने की नियमित आपराधिक अपीली अधिकारिता का जन्म हुआ—प्रिवी काउंसिल इस प्रकार की अधिकारिता का प्रयोग विशेष अनुमति से मामलों को सुनवाई के लिए ग्रहण करते समय क्राउन के विशेषाधिकार के अधीन करती थी।

अपनी न्यायिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय प्रशासनिक परावलंबन से भी मुक्त है। संविधान में कुछ विशेष उपबंध किए गए हैं, और अनुच्छेद 146 के आधार पर, मुख्य न्यायमूर्ति को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह न्यायालय के कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति कर सके और इन कर्मचारियों की सेवा-शर्तें अवधारित कर सके (ऐसा करते समय उसे किसी बाहरी प्राधिकारी से पूछने की आवश्यकता नहीं है; पेंशन, वेतन, भत्ते और छुट्टी के बारे में निर्णय करते समय उसे राष्ट्रपति से परामर्श करना होगा पर यह शर्त उस दृष्टि से लगाई गई है कि उच्चतम न्यायालय और अन्य सरकारी कर्मचारियों के अनुरूप वर्गों की वेतन संरचना में असंगति न हो। उच्चतम न्यायालय के खर्च के ऊपर संसद का नियंत्रण न रहे, इसके लिए यह उपबंध किया गया है कि इस न्यायालय के प्रशासनिक व्यय को भारत की समेकित निधि पर भारित किया जाएगा। संसद को न्यायाधीशों के ऊपर केवल इस रूप में नियंत्रण है कि वह उनके ऊपर महाभियोग लगा सकती है।

उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायमूर्ति और 25 सह-न्यायाधीश हैं। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और अवर न्यायाधीशों के वेतन तथा परिलब्धियां संविधान द्वारा नियत हैं।

भारत के उच्चतम न्यायालय को आरंभिक, अपीली और परामर्शी अधिकारिताएं हैं। आरंभिक अधिकारिता का प्रयोग बहुत कम किया जाता है यद्यपि कुछ मामले ऐसे हैं जिनमें इसका अवलंब लिया गया है और इसका प्रयोग किया गया है। उच्चतम न्यायालय की एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकारिता है—मूल अधिकारों की रक्षा के लिए अनुच्छेद 32 के अधीन याचिकाएं ग्रहण करना। इस शक्ति का व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है और हाल ही में, इसकी व्याप्ति को एक विशेष प्रकार के वाद विचारार्थ स्वीकार करते हुए और बढ़ाया गया है। इसे सामान्यतया लोकहित वाद कहा जाता है।

उच्चतम न्यायालय का मुख्य काम अपीलों की सुनवाई है। इस रूप में यह संवैधानिक उपबंधों के अर्थान्वयन के अंतिम निर्णायक का काम करता है और विधि की एक समान व्याख्या उपलब्ध कराता है। इसे ऐसा करने की संपूर्ण शक्ति है। उच्चतम न्यायालय एक

वाद से दूसरे में अपनी राय बदल सकता है। वैसे, यह पूर्वनिर्णय पर दृढ़ रहने का प्रयास करता है जिसे 'पूर्वनिर्णयानुसरण' कहा जाता है। पूर्वनिर्णयानुसरण के नियमानुसार, यदि विधि के किसी सिद्धांत का निर्धारण क्रमशः कई निर्णयों द्वारा हो जाता है तो वह प्रायः न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होता है और समान प्रकृति के मामलों में उसका अनुकरण किया जाना चाहिए।

उच्चतम न्यायालय के पास विभिन्न स्रोतों से अपीलें आती हैं जैसे कि उच्च न्यायालयों, अधिकरणों, विशेष अधिकरणों आदि से। किंतु अनुच्छेद 136 उच्चतम न्यायालय को किसी न्यायालय, अधिकरण अथवा प्राधिकरण के आदेश अथवा निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत याचिकाएं विचारार्थ स्वीकार करने की शक्ति प्रदान करता है।

एक बार निर्णय दे दिया जाए तो वह अंतिम माना जाता है, किंतु उच्चतम न्यायालय को अपने निर्णयों का पुनर्विलोकन करने की शक्ति है। इसकी प्रक्रिया उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 40 में दी गई है। यद्यपि पुनर्विलोकन बहुत ही कम मामलों में किया जाता है तो भी कुछ लोग इसके लिए बराबर आग्रह करते रहते हैं। इसमें बहुत ही कम सफल होते हैं। यह तभी होता है जबकि निर्णयदाता न्यायाधीशों को पुनर्विलोकन याचिका से यह विश्वास हो जाता है कि उनसे भूल हो गई है और मामला पुनर्विलोकन के योग्य है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 141 में संविधान निर्माताओं ने यह व्यवस्था दी है, "उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होगी।" अनुच्छेद 141 उच्चतम न्यायालय के निर्णयों को बाध्यकारी शक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त इसे संविधान के एक अंग के रूप में प्रतिष्ठित करता है जिसके द्वारा अधिकारपूर्वक प्रख्यापित विधि की घोषणा भारत गणतंत्र के सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है। इस अनुच्छेद के अधीन यह आवश्यक है कि उच्चतम न्यायालय का प्रख्यापन किसी निर्णय के विनिश्चय-आधार (अर्थात किसी विवाद्यक या विवाद्यकों का निर्णय करने का कारण या सिद्धांत) का अंग हो। अनुच्छेद 141 के अधीन, इतरोक्ति (अर्थात ऐसे कथन या संप्रेक्षण जो निर्णय विशेष के लिए आवश्यक नहीं है) या विधि का निरूपण मात्र भी विधि की घोषणा ही है।

उच्चतम न्यायालय की समस्त कार्रवाई अंग्रेजी में होती है। सभी दस्तावेजों के अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत करना भी आवश्यक है। न्यायालय की किसी कार्रवाई में जिन दस्तावेजों का आश्रय लिया जाना है, उनके अनुवाद के लिए उच्चतम न्यायालय ने नियम बनाए हैं। उच्चतम न्यायालय दिल्ली में स्थित है और इसकी कार्रवाइयां जनता के लिए खुली हैं। चेंबर न्यायाधीश को छोड़कर, जो अकेला ही न्यायालय लगाता है, शेष सभी मामलों की सुनवाई दो या दो से अधिक न्यायाधीशों की पीठ द्वारा की जाती है। संवैधानिक मामलों

की सुनवाई पांच न्यायाधीशों की पीठ करती है और विशेष मामलों में, पांच से अधिक न्यायाधीशों की पीठें गठित की जाती हैं।

मूल अधिकारों का प्रवर्तन

भारत के संविधान के भाग III में इस देश के अंदर सभी नागरिकों तथा व्यक्तियों के मूल अधिकारों को प्रत्याभूत किया गया है। इसके साथ ही, यदि इन अधिकारों की रक्षा के उपचार की प्रत्याभूति न दी जाती तो मूल अधिकारों की प्रत्याभूति अर्थहीन हो जाती। अतः संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 32 में इसका उपबंध किया है जिसके अनुसार उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों का अभिरक्षक बनाया गया है। यह अनुच्छेद इस बात की घोषणा करता है कि संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन के लिए समुचित कार्रवाई द्वारा उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत है। उक्त अनुच्छेद के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता बहुत व्यापक है। संविधान के प्रवर्तन में आने के बाद से, समाज के हर क्षेत्र के याचिकादाताओं ने अपने मूल अधिकारों की रक्षा तथा प्रवर्तन के लिए उच्चतम न्यायालय की शरण ली है।

अनुच्छेद 32 द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रदत्त अधिकारिता हमारे संविधान की आधारभूत संरचना का महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग है। उच्चतम न्यायालय ने संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों के भंग होने का दावा करने वाले हर प्रार्थी को संरक्षण प्रदान किया है और अपने सशक्त तथा लंबे हाथ ऐसे किसी भी व्यक्ति अथवा निकाय को संरक्षण प्रदान करने के लिए आगे बढ़ाए हैं जिसके मूल अधिकारों का उल्लंघन हुआ है अथवा होने की आशंका है। यह न्यायालय मूल अधिकारों का संरक्षक और प्रत्याभूतिदाता है।

विधि अधिकारी और केंद्रीय विधि अभिकरण

केंद्र सरकार के विधि अधिकारी :

महान्यायवादी (अटर्नी जनरल)

संविधान के अनुच्छेद 76 में भारत के राष्ट्रपति द्वारा महान्यायवादी नाम से एक विधि अधिकारी की नियुक्ति किए जाने का उपबंध है। उसका कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति द्वारा समय समय पर भेजे गए अथवा सौंपे गए विधिक विषयों पर भारत सरकार को परामर्श दे तथा विधिक प्रकृति के अन्य कर्तव्यों का निर्वाह करे और संविधान अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा प्रदत्त कृत्यों का निर्वहन करे।

महान्यायवादी देश का सर्वोच्च विधि अधिकारी होता है और अपने कर्तव्यों के निर्वाह के क्रम में उसे भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर न्यायालयों में सुने जाने का अधिकार है।

महान्यायवादी राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत अपना पद धारण करता है और उसे राष्ट्रपति द्वारा समय समय पर अवधारित पारिश्रमिक मिलता है।

अनुच्छेद 88 के अधीन महान्यायवादी को अत्यंत महत्वपूर्ण अधिकार यह मिला हुआ है कि उसे संसद के किसी भी सदन में या ऐसी किसी समिति में जिसका उसे सदस्य बनाया गया है उपस्थित होकर बोलने का अधिकार है (पर उसे वोट देने का अधिकार नहीं है)। साथ ही, उसे अपने पद के नाते, संविधान के अनुच्छेद 105 के खंड (4) में उल्लिखित संसद सदस्य के विशेषाधिकार भी हैं जो उक्त अनुच्छेद द्वारा महान्यायवादी को भी प्रदान किए गए हैं।

उच्चतम न्यायालय नियम के आदेश 43 तथा नियमों के अधीन, यदि इस न्यायालय में किसी उपबंध की संवैधानिकता को चुनौती दी जाती है तो महान्यायवादी को उसकी सूचना पाने का अधिकार है। यदि भारत के राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय को कोई निर्देश भेजा गया है तो महान्यायवादी को इसकी सूचना पाने तथा न्यायालय में उपस्थित होने का भी अधिकार है।

अन्य विधि अधिकारी

महान्यायवादी के अतिरिक्त, अन्य विधि अधिकारी हैं भारत के महा सॉलिसीटर और भारत के अतिरिक्त महा सॉलिसीटर। इन अधिकारियों के कर्तव्य इस प्रकार हैं :

1. भारत सरकार द्वारा समय समय पर भेजे गए अथवा सौंपे गए विधिक विषयों पर सरकार को परामर्श देना तथा विधिक प्रकृति के अन्य कर्तव्यों का निर्वहन करना;
2. ऐसे मामलों (वादों, रिट याचिकाओं, अपीलों और अन्य कार्रवाइयों सहित) में जिनमें भारत सरकार एक पक्ष हो या जिनमें अन्यथा हितबद्ध हो, उसकी ओर से उच्चतम न्यायालय अथवा किसी अन्य न्यायालय में पेश होना;
3. राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय को भेजे गए निर्देश में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करना; तथा
4. संविधान अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन विधि अधिकारों को सौंपे गए अन्य कार्यों का निर्वहन करना।

किसी प्रकार की उलझन अथवा कर्तव्य-संघर्ष से बचने के लिए, विधि अधिकारी को इस बात की अनुमति नहीं है कि वह

1. भारत सरकार के विरुद्ध परामर्श दे या कोई मुकदमा हाथ में ले;
2. ऐसे किसी मामले में परामर्श दे या उसे हाथ में ले जिसमें उसे भारत सरकार को परामर्श देने या उसकी ओर से न्यायालय में पेश होने की संभावना है;

3. भारत सरकार की अनुमति के बिना, आपराधिक अभियोजनों में अभियुक्तों की प्रतिरक्षा करे;
4. भारत सरकार की अनुमति के बिना किसी कंपनी या निगम में निदेशक के रूप में नियुक्ति स्वीकार करे;
5. उच्चतम न्यायालय में किसी निगम के पक्ष और भारत सरकार के पक्ष के बीच संघर्ष होने पर विधि अधिकारी भारत सरकार के पक्ष को वरीयता देगा।

विधि अधिकारियों के मुख्यालय नई दिल्ली में हैं। जब जहां आवश्यकता होती है, वे किसी भी उच्च न्यायालय अथवा अन्य अधीनस्थ न्यायालय में भारत सरकार, लोक निगमों तथा राज्य सरकारों के हित का प्रतिनिधित्व करते हैं।

केंद्रीय विधि अभिकरण अनुभाग

उच्चतम न्यायालय सहित भारत के विभिन्न न्यायालयों और अभिकरणों में आज केंद्र तथा राज्य सरकारों और उनके अभिकरण सबसे बड़े वादकारी हैं। उच्चतम न्यायालय में विभिन्न राज्य सरकारों का प्रतिनिधित्व उनके अपने अभिलेख अधिवक्ता द्वारा किया जाता है जिन्हें उन उन राज्यों का स्थायी अधिवक्ता कहते हैं। आंध्र प्रदेश, असम, गुजरात, हरियाणा, महाराष्ट्र, केरल, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु और जम्मू-कश्मीर आदि के उच्चतम न्यायालय में अपने अभिलेख अधिवक्ता हैं। उच्चतम न्यायालय में विधि मंत्रालय के अधीन केंद्र सरकार, अन्य राज्यों तथा सरकारी संगठनों का एक विभाग है जिसे आमतौर पर केंद्रीय अभिकरण कहते हैं जिसमें कई अर्हता प्राप्त अधिवक्ता भारत सरकार और उसके अभिकरणों तथा राज्यों की ओर से या उनके विरुद्ध कार्रवाइयों का सूत्रपात करने, संचालन करने या प्रतिरक्षा करने के काम से पूरे समय के लिए नियुक्त और संबद्ध रहते हैं।

2

अधिकरण तथा आयोग

न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य न्यायिक तथा न्यायिक-कल्प अधिकरण

हमारे संविधान में शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत गहराई से समाया हुआ है। अब से लगभग पांच दशक पहले, जब संविधान का निर्माण हुआ था, राज्य के कार्यकलाप अपेक्षाकृत कम तथा सीमित थे। तब से, राज्य के कार्यकलाप में बड़ी वृद्धि हुई है और केंद्र तथा राज्य सरकारों ने वाणिज्यिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी प्रवेश किया है। सरकारी कर्मचारियों की सेवा-शर्तों, स्थानांतरण, पदोन्नतियों, नियुक्तियों आदि से संबंधित विवाद भी बढ़ गए हैं।

संविधान निर्माताओं को इन सब घटनाओं का पूर्वाभास नहीं हो सकता था इसलिए उन्होंने स्वयं को देश के नागरिकों के लिए एक निश्चित न्यायिक मंच देने तक सीमित रखा। उस समय, संभवतया उन्होंने यह सोचा था कि वर्तमान न्यायालय लोगों की न्यायिक आकांक्षाओं को पूरा करने और सभी प्रकार के विवादों का निपटारा करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होंगे। किंतु आगे चलकर मालूम हुआ कि बदली हुई स्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामान्य न्यायालय, जिनकी कुछ पारंपरिक तथा प्रक्रियागत सीमाएं हैं, पर्याप्त नहीं हैं। अपनी इन्हीं सीमाओं के कारण ये न्यायालय नए सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में उठने वाली समस्याओं को सुलझाने में पूरी तरह समर्थ नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप, विभिन्न अधिकरण स्थापित किए गए किए जाते हैं जिन्हें पारंपरिक अर्थ में पूरी तरह न्यायालय नहीं कहा जा सकता। फिर भी, ये उपयुक्त विधिक प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए अनेक विवादों को विचारार्थ स्वीकार करते हैं और उनका निर्णय करते हैं। ऐसे न्यायालयों और अधिकरणों की स्थापना के कुछ कारण नीचे दिए गए हैं।

न्यायालयों की अपेक्षा अधिकरण क्यों :

1. उन सभी विवादों का निपटारा करने के लिए जिनका न्यायनिर्णयन अपेक्षित है, हमारी न्यायिक व्यवस्था अपर्याप्त है। यह पाया गया है कि यह मंद, खर्चीली, अदक्ष, जटिल तथा औपचारिकता से ग्रस्त है। इसके अलावा, इसके पास कार्य का बोझ बहुत अधिक है। अनेक महत्वपूर्ण मामले ऐसे हैं जैसे कि, मालिकों और कर्मचारियों के आपसी विवाद, तालेबंदियां, हड़तालें आदि जिनका शीघ्रतापूर्वक निपटारा करना होता है और जिनका निर्णय अन्य न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है।
2. इस रूप में स्थापित अधिकरण सैद्धांतिक तथा विधिमूलक दृष्टिकोण के स्थान पर प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण अपना कर प्रक्रियागत वाधाओं से बच सकते हैं। इनके लिए साक्ष्य तथा प्रक्रिया के कठोर नियमों से बंधकर काम करना अनिवार्य नहीं है। अपने विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करते हुए ये अधिकरण विशेषित तथा जटिल समस्याओं का भी व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए निर्णय कर सकते हैं।
3. अनेक विवादग्रस्त प्रश्न तकनीकी प्रकृति के होते हैं। पारंपरिक न्यायिक व्यवस्था के भीतर इनसे निपटना कठिन तथा दुर्वह होता है और न्यायपालिका इस प्रकार के प्रश्नों से संबंधित सामग्री एकत्र करने और त्वरित निर्णय लेने में पूर्णतया सक्षम भी नहीं है। इसके विपरीत, अधिकरणों में प्रायः विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है जो इस प्रकार की समस्याओं को हाथ में लेकर उनका समाधान कर सकते हैं; ऐसी समस्याओं के उदाहरण हैं पारिवारिक विवाद, गैस, बिजली, रेल-दरें, एकाधिकारी व्यवहार, उपभोक्ता विवाद आदि से संबंधित समस्याएं।
4. अपेक्षाकृत अधिक तकनीकी ज्ञान होने के फलस्वरूप ये अधिकरण सामान्य न्यायालयों की अपेक्षा अधिक गति से, कम खर्च में और दक्षतापूर्वक अपना काम करते हैं। इनका उद्देश्य ही यह है कि ये विवादों का निर्णय करते समय संबंधित विधि में छिपी सामाजिक न्याय की भावना तथा न्यायसंगत समाधान की नीति को बढ़ावा देने का सचेतन प्रयास करें और विवाद विशेष में निहित सामाजिक हित की ओर विशेष ध्यान दें।

अधिकरण

अधिकरण अनेक दृष्टियों से पारंपरिक न्यायालयों के समान ही हैं। दोनों का गठन विधानमंडल द्वारा किया जाता है और दोनों को विशिष्ट न्यायिक शक्तियां प्रदान की जाती हैं। उनका अस्तित्व स्थायी होता है और वे न्याय-निर्णायक निकाय होते हैं। वे विभिन्न पक्षों द्वारा लाए गए विवादों पर विचार कर उनका निपटारा करते हैं जिनके विरुद्ध

विधि के अनुसार अपील की जा सकती है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने कहा है, (एसोशिएटेड सीमेंट कंपनी लिमिटेड बनाम पी. एन. शर्मा तथा अन्य के मामले में–ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 1595) न्यायालयों तथा अधिकरणों, दोनों का समान आधारभूत और मौलिक लक्षण यह है कि ये न्यायिक कार्य संपन्न करते हैं और एक प्रभुतासंपन्न राज्य में अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हैं।

फिर भी, अधिकरणों को पूरी तरह न्यायालय की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उनके स्वरूप में कुछ लक्षण न्यायालय के समान अवश्य होते हैं पर न्यायालयों के सभी लक्षण उनमें नहीं पाए जाते। इन दोनों के भेद को संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

1. न्यायालय पारंपरिक न्यायिक प्रणाली का अंग होता है। इसकी न्यायिक शक्तियां राज्य से व्युत्पन्न होती हैं और जो न्याय देने का काम करता है, उसे न्यायालय कहते हैं। दूसरी ओर, अधिकरण किसी विशिष्ट विधि के द्वारा बना अभिकरण होता है और उसे विनिर्दिष्ट मामलों को निपटाने के लिए न्यायिक शक्तियां प्रदान की जाती हैं।
2. अपने कार्यकाल तथा सेवा की शर्तों आदि के मामले में न्यायाधीश कार्यपालिका से स्वतंत्र होते हैं। दूसरी ओर, अधिकरण बहुत हद तक सरकार के हाथों में होते हैं।
3. न्यायालय की अध्यक्षता प्रायः विधि में प्रशिक्षित अधिकारी द्वारा की जाती है जबकि अधिकरण का अध्यक्ष अथवा सदस्य विधि में प्रशिक्षित हो यह आवश्यक नहीं है।
4. न्यायालय में, न्यायाधीश के लिए एक निष्पक्ष मध्यस्थ होना अनिवार्य है और वह किसी ऐसे मामले का निर्णय नहीं कर सकता जिसके साथ वह हितबद्ध हो। दूसरी ओर, अधिकरण के मामले में हो सकता है कि वह स्वयं विवाद्य मामले का एक पक्ष हो, जैसे कि रेल-रेट अधिकरण, एकाधिकार आयोग आदि।
5. न्यायालय साक्ष्य एवं प्रक्रिया के सभी नियमों से बंधा होता है लेकिन अधिकरण तब तक पूरी तरह इन नियमों से बंधा नहीं होता जब तक कि संबंधित विधि के अधीन यह उसके लिए अनिवार्य न कर दिया गया हो।
6. न्यायालय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य और सामग्री के आधार पर तटस्थ भाव से सभी प्रश्नों का निर्णय करे जबकि अधिकरण अपना निर्णय देते समय सरकारी नीति, समीचीनता आदि को भी ध्यान में रख सकता है।
7. न्यायालय किसी विधान की 'शक्तिमत्ता' का निर्णय कर सकता है जबकि अधिकरण ऐसा नहीं कर सकता।

केंद्रीय तथा राज्य प्रशासनिक अधिकरण एवं अन्य अधिकरण

42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 के परिणामस्वरूप भारत के संविधान में अनुच्छेद 323 क जोड़ा गया है। इसने लोक सेवाओं या संघ और राज्य के पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती और सेवाशर्तों से संबंधित विवादों के न्यायनिर्णयन को सिविल न्यायालयों और उच्च न्यायालयों के पास से निकालकर संघ के या राज्यों के प्रशासनिक अधिकरणों के हाथ में दे दिया है।

अनुच्छेद 323 क के इस उपबंध के अनुसरण में संसद ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 पारित करके इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना कर दी है जिसकी शाखाएं निर्दिष्ट नगरों में खोली गई हैं। इस अधिनियम में यह उपबंध है कि प्रशासनिक अधिकरण संघ के मामलों से संबंधित लोक सेवाओं और पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को या किसी राज्य या भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर स्थित किसी स्थानीय या अन्य ऐसे प्राधिकरण में कार्यरत कर्मचारियों की जो भारत सरकार के नियंत्रण में है या किसी ऐसे निकाय या समिति के नियंत्रण में है जिस पर सरकार का स्वामित्व और नियंत्रण है, भर्ती और सेवाशर्तों और उससे संबद्ध या उसके अनुषंगी विषयों में संबंधित विवादों और परिवादों का न्यायनिर्णयन या विचारण करेंगे।

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम को पारित करने का उद्देश्य था :

1. न्यायालयों के काम के बोझ को हल्का करना तथा
2. सेवा विषयक मामलों से संबंधित विवादों के न्यायालयों की तुलना में अधिक त्वरित गति से निपटारे की व्यवस्था करना।

किंतु रक्षा सेवाओं में कार्यरत व्यक्तियों, उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों तथा कर्मचारियों, और संसद के सचिवालयी कर्मचारिवृंद तथा किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र के विधानमंडल के सचिवालयी कर्मचारिवृंद से संबंधित विवाद इन अधिकरणों की अधिकारिता में नहीं आते।

जो मामले अब उक्त अधिकरण की अधिकारिता में हैं, उनके विषय में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 ने सिविल न्यायालयों की वाद ग्रहण करने की और अनुच्छेद 226 (या अनुच्छेद 227) के अधीन याचिका ग्रहण करने की उच्च न्यायालय की अधिकारिता समाप्त कर दी है।

उच्च न्यायालय जिन मामलों को अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन विचारार्थ स्वीकार कर उनका न्यायनिर्णयन कर सकता था, उन पर विचार एवं न्यायनिर्णय करने के लिए प्रशासनिक अधिकरण सक्षम है। इसमें संगत विधियों की संवैधानिकता का निर्णय करना

भी सम्मिलित है। यह अधिकरण इस बात की घोषणा करने के लिए सक्षम है कि कोई सांविधिक सेवा नियम अनुच्छेद 14 और 16 का उल्लंघन करता है।

राज्य प्रशासनिक अधिकरणों को नियत दिन से शक्तियों तथा प्राधिकार सहित वह समस्त अधिकारिता प्रदान की गई है जो निम्नलिखित मामलों में, ठीक इससे पहले, सभी न्यायालय (उच्चतम न्यायालय को छोड़कर) प्रयोग में लाते थे :

1. राज्य की किसी सिविल सेवा या राज्य के अधीन किसी सिविल पद पर भर्ती और भर्ती से संबंधित मामले;
2. राज्य की सभी सेवाएं या राज्य के अधीन कोई सिविल पद या राज्य सरकार या राज्य सरकार के नियंत्रण में कार्यरत किसी स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकरण अथवा राज्य सरकार के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में कार्यरत किसी निगम या समिति के कामकाज के संबंध में ऐसे किसी व्यक्ति की सेवा से संबंधित मामले;
3. राज्य के कामकाज के संबंध में ऊपर खंड (2) में उल्लिखित किसी सेवा अथवा पद पर नियुक्त ऐसे व्यक्ति की सेवा से संबंधित सभी मामले जिसको सेवाएं किसी ऐसे स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकरण या निगम या समिति या किसी ऐसे निकाय को दे दी गई हैं जो राज्य सरकार के नियंत्रण अथवा स्वामित्व में है।

राज्य प्रशासनिक अधिकरण राज्य की सेवाओं से संबंधित विवादों के निर्णयन के लिए हैं और वे किसी ऐसे मामले को विचारार्थ स्वीकार नहीं कर सकते जो केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण की अधिकारिता में आता है।

इन अधिकरणों को किसी ऐसी याचिका को विचारार्थ स्वीकार करने का अधिकार या शक्ति प्राप्त नहीं है जो :

1. अनुच्छेद 311 (2) के द्वितीय परंतुक के खंड (ग) के अधीन राष्ट्रपति या राज्यपाल के समाधान के आधारों को चुनौती देती हो; और/या
2. किसी ऐसे प्रशासनिक अवधारण के गुणावगुण की परीक्षा करती हो जिसके पीछे किसी तरह की कदाशयता, मनमानापन, शक्ति का छद्म प्रयोग या अधिकारिता के बिना ही शक्ति का प्रयोग या बिना किसी साक्ष्य के निर्णय पर पहुंचने की बात न हो।

अधिकरण के सदस्य

केंद्रीय तथा राज्य, दोनों स्तर के प्रशासनिक अधिकरणों के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और न्यायिक एवं प्रशासनिक सदस्यों की नियुक्ति मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह आवश्यक है कि अधिकरण का अध्यक्ष उच्च न्यायालय का न्यायाधीश हो अथवा कम से कम दो वर्ष तक न्यायाधीश अथवा उपाध्यक्ष रहा हो। यह उपबंध इस बात को

सुनिश्चित करने के लिए है कि इन पदों पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति किसी भी रूप में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से हीन न हों, विशेषकर इसलिए भी कि वे वस्तुतया उन सभी शक्तियों का प्रयोग करते हैं जो उन न्यायाधीशों द्वारा अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन विवादों का निर्णय करते समय प्रयोग में लाई जाती हैं।

विवाद उस पीठ के समक्ष प्रस्तुत किए जाने चाहिए जिसकी अधिकारिता में आवेदक उस समय पदस्थापित है।

यदि अधिकरण यह पाता है कि कोई आवेदन विहित नियमों के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया गया है या वह उसके द्वारा न्यायनिर्णयन अथवा विचारण के उपयुक्त नहीं है तो वह उसे संक्षिप्त विचारण में ही नामंजूर कर सकता है।

अधिकरण सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 में अधिकथित प्रक्रिया से बंधा नहीं होता पर वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों से मार्गदर्शन लेता है। उसे शर्तों के विनियमन की शक्ति है जिसमें जांच के स्थान तथा समय का तय करना और यह तय करना सम्मिलित है कि उसकी कार्रवाई सार्वजनिक होगी या बंद कमरे में। अधिकरण से अपेक्षा की जाती है कि वह उसे प्रस्तुत प्रत्येक आदेश का निर्णय यथासंभव शीघ्रतापूर्वक करेगा।

अधिकरण को निम्नलिखित के लिए अतिरिक्त शक्तियां दी गई हैं :

1. किसी भी व्यक्ति को समन करना और उसे हाजिर होने के लिए विवश करना तथा शपथपत्र पर उसकी परीक्षा करना;
2. दस्तावेजों का प्रकटीकरण और प्रस्तुत किए जाने की अपेक्षा करना;
3. शपथपत्र पर साक्ष्य को ग्रहण करना;
4. भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 (1872 का 1) की धारा 123 और 124 के उपबंध के अधीन, किसी कार्यालय से कोई लोक अभिलेख या दस्तावेज या ऐसे अभिलेख अथवा दस्तावेज की प्रति मंगाना;
5. साक्षियों या दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन जारी करना;
6. अपने निर्णयों का पुनर्विलोकन कराना;
7. व्यतिक्रम के आधार पर अभ्यावेदन खारिज करना या उसका एकपक्षीय निर्णय करना;
8. व्यतिक्रम के कारण अभ्यावेदन की खारिजी को या अपने द्वारा किए गए किसी आदेश को अपास्त करना;
9. केंद्र सरकार द्वारा विहित अन्य मामले।

अधिकरण को अपने निर्णयों के पुनर्विलोकन की शक्ति है जो 30 दिन के भीतर तथा विहित नियमों के अनुसार फाइल किया जाना चाहिए।

यदि अभिलेख पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि अधिकरण से कोई

गलती हो गई है तो उसे भूल ठीक करने की शक्ति भी है। यह न्यायालय अवमान अधिनियम 1971 के अधीन अवमानना के लिए दंड दे सकता है।

अपीलें

व्यथित पक्ष, अंतिम उपचार के रूप में, केवल एक ही न्यायालय के समक्ष अपील कर सकता है और वह है अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय। कारण यह है कि प्रशासनिक अधिकरणों के निर्णयों के विरुद्ध अपील केवल उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं। उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन हस्तक्षेप करने के लिए सक्षम नहीं हैं। अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता प्रभावित नहीं होती।

अनुच्छेद 323 ख के अधीन अन्य अधिकरण

संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम ने अनुच्छेद 323 ख जोड़ा है जिसमें प्रशासनिक अधिकरणों के अतिरिक्त अन्य अधिकरणों की स्थापना का उपबंध है। यह किन्हीं मामलों से संबद्ध अधिकरण स्थापित किए जाने की बाबत है जैसे कि

1. किसी कर का उद्ग्रहण, निर्धारण, संग्रहण तथा प्रवर्तन;
2. विदेशी मुद्रा, सीमाशुल्क सीमांतों के आर-पार आयात और निर्यात;
3. औद्योगिक और श्रम विवाद;
4. राज्य द्वारा अनुच्छेद 31 क में यथापरिभाषित किसी संपदा या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन या ऐसे किन्हीं अधिकारों के निर्वाचन या उपंतरण या कृषि-भूमि की उच्चतम सीमा द्वारा या किसी अन्य प्रकार से भूमि सुधार;
5. नगर संपत्ति की अधिकतम सीमा;
6. संसद के प्रत्येक सदन या राज्य विधानमंडल के सदन के लिए निर्वाचन, किंतु इसमें अनुच्छेद 329 और 329 क में निर्दिष्ट विषयों को छोड़कर;
7. खाद्य पदार्थों का (जिनके अंतर्गत खाद्य तिलहन और तेल हैं) और ऐसे अन्य माल का उत्पादन, उपापन, प्रदाय और वितरण, जिन्हें राष्ट्रपति, लोक सूचना द्वारा इस अनुच्छेद के लिए घोषित करे और ऐसे माल की कीमत का नियंत्रण;
8. उपर्युक्त (1) से (7) में विनिर्दिष्ट विषयों में से किस विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध और उन विधियों में से किसी की बाबत फीस।

जब तक कोई अधिनियम न बने और अनुच्छेद 323 ख (3) (घ) के अधीन अधिकरण की स्थापना न हो तब तक अनुच्छेद 226 के अधीन सिविल न्यायालय या उच्च न्यायालय की विद्यमान अधिकारिता बनी रहेगी। एक बार अधिकरण की स्थापना हो जाए तो जिन मामलों के लिए वह स्थापित किया गया है उन पर अधिकरण अनन्य रूप से विचारण कर सकेगा।

समुचित विधानमंडल को यह शक्ति है कि वह उपर्युक्त (1) से (8) में उल्लिखित मामलों के संबंध में अधिकरणों का सोपान स्थापित कर सके। लेकिन संसद ने केवल एक ही विषय, सीमा शुल्क तथा उत्पाद शुल्क, को लेकर ही अधिनियम पारित किया है। यह है सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क राजस्व अपील अधिकरण अधिनियम 1986 जिसमें सीमा शुल्क अधिनियम 1962 तथा केंद्रीय उत्पाद शुल्क और नमक अधिनियम 1944 के अधीन मूल्यांकन, वर्गीकरण तथा शुल्क की दरों के विषय में विवादों का निपटारा करने और निर्णय करने का उपबंध किया गया है—ये विषय उच्च न्यायालयों की अधिकारिता से बाहर कर दिए गए हैं। यह अधिनियम अभी प्रवृत्त नहीं हुआ है इसलिए अधिकरण की स्थापना नहीं हुई है।

अधिकरण के निर्णयों के विरुद्ध अपील केवल उच्चतम न्यायालय में की जा सकेगी।

सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क राजस्व अधिकरण

केंद्रीय सरकार ने सन् 1982 में सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 129 के अधीन (जिसे आगे संक्षेप में अपील अधिकरण कहा गया है) सीमा शुल्क, उत्पादन शुल्क और स्वर्ण (नियंत्रण) अपील अधिकरण की स्थापना की थी। इस अधिकरण ने 12 अक्तूबर, 1982 से कार्य प्रारंभ किया। अपील अधिकरण, जैसा इसके नाम से संकेत मिलता है, सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 129 क, केंद्रीय सीमा शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 की धारा 35 ख और स्वर्ण (नियंत्रण) अधिनियम, 1968 की धारा 81 के अधीन अपीलों की सुनवाई करता है। इसमें इतने न्यायिक और तकनीकी सदस्य होते हैं जितने केंद्रीय सरकार अपील अधिकरण को प्रदत्त कृत्यों का प्रयोग और निर्वहन करने के लिए उचित समझे।

अधिकरण का न्यायिक सदस्य वह व्यक्ति होता है जिसने भारत के राज्य क्षेत्र में कम से कम 10 वर्ष तक न्यायिक पद धारण किया हो या जो केंद्रीय विधिक सेवा का सदस्य रहा हो या जिसने उक्त सेवा की श्रेणी-1 का कोई पद या उसके समतुल्य या उससे उच्चतर पद कम से कम 3 वर्ष तक धारण किया हो या जो 10 वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो, आदि। अधिकरण का तकनीकी सदस्य वह व्यक्ति होता है जो भारतीय सीमा शुल्क और केंद्रीय उत्पाद शुल्क सेवा, समूह-'क' का सदस्य रहा हो और जिसने सीमा शुल्क या केंद्रीय उत्पाद शुल्क कलक्टर का पद या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर पद कम से कम 3 वर्ष तक धारण किया हो। इन सदस्यों में से एक सदस्य अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया जाता है और एक या अधिक सदस्य उपाध्यक्ष के रूप में और उक्त उपाध्यक्षों में से एक ज्येष्ठ उपाध्यक्ष के रूप में भी नियुक्त किया जा सकता है। ज्येष्ठ उपाध्यक्ष और उपाध्यक्ष अध्यक्ष की ऐसी शक्तियों का प्रयोग और उसके ऐसे कृत्यों का पालन करते हैं, जो लिखित रूप में सामान्य या विशेष आदेश द्वारा उनको समानुदेशित किए जाएं।

निर्धारण के प्रयोजनों के लिए शुल्क दर या माल के मूल्य से संबद्ध किसी प्रश्न का अवधारण करने के बारे में किसी विनिश्चिय या आदेश के विरुद्ध अपील न्यायपीठ द्वारा सुनी जाती है जिसमें कम से कम दो सदस्य होते हैं जिनमें कम से कम एक न्यायिक सदस्य और कम से कम एक तकनीकी सदस्य होता है। ये न्यायपीठ विशेष न्यायपीठ कहलाते हैं। वर्तमान समय में पांच ऐसे न्यायपीठ हैं और इस समय उनकी बैठकें 2, पश्चिमी ब्लाक, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली में होती हैं। अन्य न्यायपीठों में भी समान्यतया दो सदस्य होते हैं और उनमें से एक सामान्यतया न्यायिक सदस्य और दूसरा तकनीकी सदस्य होता है। इन अन्य न्यायपीठों में निर्धारण के प्रयोजनों के लिए शुल्क की द्वर या माल के मूल्य से संबद्ध मामलों से भिन्न मामलों में अपीलों की सुनवाई की जाती है। ये न्यायपीठ प्रादेशिक

न्यायपीठ कहलाते है। इस समय 4 प्रादेशिक न्यायपीठ कार्य कर रहे हैं और वे दिल्ली में स्थित केंद्रीय प्रादेशिक न्यायपीठ, कलकत्ता में स्थित पूर्वी प्रादेशिक न्यायपीठ, मद्रास में स्थित दक्षिणी प्रादेशिक न्यायपीठ और मुंबई में स्थित पश्चिमी प्रादेशिक न्यायपीठ हैं।

इसके अतिरिक्त अध्यक्ष इस बात के लिए भी सशक्त है कि वह एकल न्यायपीठ अर्थात, जहां निर्धारण के प्रयोजनों के लिए उत्पाद शुल्क की दर, माल के मूल्य के अवधारण या शुल्क में अंतर संबंधी प्रश्न विवाद्यक नहीं हैं और जहां जुर्माने या शास्ति की राशि 50,000 रुपए से अधिक नहीं है, वहां एकल सदस्य वाली न्यायपीठ गठित करे।

अपील अधिकरण अपील के पक्षकारों को सुने जाने का अवसर प्रदान करने के पश्चात उस विनिश्चय या आदेश की जिसके विरुद्ध अपील की गई है, पुष्टि करने वाला, उसे उपांतरित करने वाला या उलटने वाला ऐसा आदेश पारित करने के लिए सशक्त है जो वह ठीक समझे। यह अधिकरण उस प्राधिकारी को भी, जिसने ऐसा विनिश्चय या आदेश पारित किया था जिसके विरुद्ध अपील की गई थी, ऐसे निदेशों के साथ, जो वह ठीक समझे, नये सिरे से न्याय-निर्णयन या विनिश्चय के लिए और, यदि अपेक्षित हो तो, अतिरिक्त साक्ष्य लेकर, मामला वापस निर्दिष्ट कर सकता है। अपील प्राधिकारी स्वयं अपने विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करने के लिए सशक्त नहीं हैं। तथापि, यदि अभिलेख से भूल प्रकट होती हो तो वह अपने द्वारा पारित किसी भी आदेश को संशोधित या ऐसी किसी भूल को परिशोधित कर सकता है तो आदेश की तारीख से चार वर्ष के भीतर कलक्टर या पक्षकारों द्वारा उसके ध्यान में लाई जाए।

सामान्यतया अपीलें अपील अधिकरण द्वारा तब ग्रहण की जाती हैं जब माल की बाबत मांगा गया शुल्क या कनिष्ठ प्राधिकारियों द्वारा अधिरोपित शास्तियां जमा कर दी गई हों। तथापि, यदि अपील अधिकरण की यह राय है कि मांगे गए शुल्क या उद्गृहीत शास्ति जमा करने से ऐसे पक्षकार को असम्यक कठिनाई होगी तो वह उक्त रकम या उक्त रकम के किसी भाग को जमा करने का आग्रह किए बिना अपील की सुनवाई करने के लिए सशक्त है। ऐसी जमा राशियों से अभियुक्ति देते समय वह राजस्व का हित सुरक्षित करने की दृष्टि से ऐसी शर्तें अधिरोपित कर सकेगा जो वह उचित समझे।

अपील अधिकरण के न्यायपीठों के विनिश्चय बहुमत द्वारा किए जाते हैं। यदि किसी न्यायपीठ के सदस्यों में किसी प्रश्न पर मतभेद है और यदि सदस्य बराबर बंटे हुए हैं तो, उनसे ऐसा प्रश्न या ऐसे प्रश्न कथित्त करने की अपेक्षा है जिस पर उनमें मतभेद हैं और तब वे उसे अध्यक्ष को निर्दिष्ट कर सकते हैं। अध्यक्ष ऐसा निर्देश प्राप्त होने पर या तो स्वयं उस प्रश्न या उन प्रश्नों की सुनवाई करेगा या मामला अपील अधिकरण के एक या अधिक अन्य सदस्यों को ऐसे प्रश्न या प्रश्नों की सुनवाई के लिए निर्दिष्ट करेगा और ऐसे प्रश्नों का विनिश्चिय उन सदस्यों की बहुसंख्या की जिसके अंतर्गत वे सदस्य भी हैं जिन्होंने वह अपील पहले सुनी थी, राय के अनुसार किया जाता है।

अपील अधिकरण किसी पक्षकार द्वारा आवेदन किए जाने पर मामले का विवरण तैयार करके विधि संबंधी कोई प्रश्न उच्च न्यायालय को निर्दिष्ट करने के लिए सशक्त है। उच्च न्यायालयों को निर्दिष्ट मामले उच्च न्यायालय के कम से कम दो न्यायाधीशों वाली न्यायपीठ द्वारा सुने जाते हैं और उनका विनिश्चय ऐसे न्यायाधीशों या उक्त न्यायाधीशों की बहुसंख्या की राय के अनुसार किया जाता है। इसी प्रकार ऐसे मामले में, जिसमें विधि के किसी विशिष्ट प्रश्न पर उच्च न्यायालय के विनिश्चयों में विरोध है और अपील अधिकरण यह समीचीन समझता है कि उसे उच्चतम न्यायालय को निर्देशित किया जाए तो वह उस मामले का विवरण तैयार करके अध्यक्ष की मार्फत उसे सीधे उच्चतम न्यायालय को निर्दिष्ट कर सकता है। उच्चतम न्यायालय ऐसे किसी निर्देश की सुनवाई करने पर उसे किए गए प्रश्न का विनिश्चय करेगा। अपील अधिकरण से यह अपेक्षित है कि वह, यथास्थिति, उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय से राय/निर्णय प्राप्त होने पर ऐसा आदेश पारित करे जो उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय की उक्त राय/निर्णय के अनुरूप विचाराधीन अपील का निपटारा करने के लिए आवश्यक हो।

अपील अधिकरण अंतिम तथ्यों के बारे में अंतिम प्राधिकरण है। उच्च न्यायालय द्वारा निर्देश में दिए गए निर्णय के विरुद्ध, उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर देने पर कि वह निर्देश उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने के लिए ठीक है या निर्धारण के प्रयोजनों के लिए शुल्क की दर या माल के मूल्य से संबंधित किसी प्रश्न के अवधारण आदि से संबंधित अपील अधिकरण के आदेश के विरुद्ध, उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। अपील प्राधिकारी के विनिश्चय, इसमें इसके पूर्व उपबंधित के सिवाय, अंतिम होते हैं और पक्षकारों पर बाध्यकारी होते हैं।

सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 के उपबंधों के अधीन रहते हुए अपील अधिकरण को, अपनी शक्तियों के प्रयोग और अपने कृत्यों के निर्वहन से उद्भूत होने वाले सभी मामलों में अपनी प्रक्रिया और न्यायपीठों की, जिसके अंतर्गत वे स्थान भी हैं जहां न्यायपीठ अपनी बैठकें करे, प्रक्रिया विनियमित करने की शक्ति है। अपील अधिकरण को अपने कृत्यों के निर्वहन के प्रयोजनों के लिए भी वही शक्तियां हैं जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन किसी दस्तावेज के प्रकटीकरण और परीक्षा, किसी व्यक्ति को हाजिर कराने और शपथ पर उसकी परीक्षा करने, लेखा-बहियों और अन्य दस्तावेजों को पेश करने के लिए बाध्य करने के लिए और कमीशन निकालने की बाबत किसी न्यायालय में निहित हैं। अपील अधिकरण के समक्ष कार्रवाइयां भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 193 और धारा 228 के अर्थ में न्यायिक कार्रवाइयां समझी जाती हैं। अपील अधिकरण दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 195 और अध्याय 26 के सभी प्रयोजनों के लिए सिविल न्यायालय समझा जाता है।

अपील अधिकरण के समक्ष सुने जाते समय, अपील का पक्षकार अपने मामले में हाजिर होने या बहस करने के लिए या तो किसी विधि व्यवसायी को नियुक्त कर सकता है या अपने प्रतिनिधियों को, जिसके अंतर्गत उसके कर्मचारी भी हैं, प्राधिकृत कर सकता है। अन्य शब्दों में, अधिवक्ताओं से भिन्न व्यक्ति, यदि वे पक्षकारों द्वारा प्राधिकृत किए गए हों तो, पक्षकार के लिए हाजिर होकर कार्य कर सकते हैं।

एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार आयोग

एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार आयोग(MRTPC) की स्थापना का उद्देश्य था :

1. एकाधिकारी व्यापार व्यवहारों को रोकना; तथा
2. अवरोधक और अनुचित व्यापारिक व्यवहारों को रोकना।

आयोग में केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त एक अध्यक्ष और अन्य सदस्य हैं। इसका कार्यालय नई दिल्ली में है और इसे सिविल न्यायालय की तथा जांच-पड़ताल करने की सभी शक्तियां प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त, इसके विनियम केंद्र सरकार द्वारा बनाए गए हैं।

इस आयोग में अध्यक्ष के अतिरिक्त कम से कम पांच सदस्य होने चाहिए। जिस अधिनियम के द्वारा आयोग की स्थापना हुई है उसमें यह व्यवस्था है कि आयोग में अधिकतम आठ सदस्य हो सकते हैं, यद्यपि किसी समय इससे कम सदस्य हों तो भी आयोग का गठन ठीक माना जाएगा।

आयोग की मुख्य छवि उपभोक्ता संरक्षण निकाय की है। यह अंशतः ऐतिहासिक है। आयोग की स्थापना के समय न्यायिक प्रणाली में उपभोक्ता संरक्षण विधियों का अभाव था इसलिए 1984 में यह सुविधापूर्ण समझा गया कि इसके अन्य उपबंधों में अनुचित व्यापारिक व्यवहार संबंधी उपबंध जोड़ दिए जाएं।

यह अनुभव किया जाता है कि अवरोधक और अनुचित व्यापारिक व्यवहार व्यापार तथा उद्योग में चलने वाली प्रतियोगिता को विकृत कर देते हैं और उपभोक्ता हित पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। जहां तक अनुचित व्यापारिक व्यवहारों का संबंध है, इसके लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 नाम से एक अधिनियम है जिसे इस अधिनियम के अधीन स्थापित परिवाद निवारण प्रणाली द्वारा स्वतंत्र रूप से प्रशासित किया जाता है। इससे MRTP आयोग की व्याप्ति और अधिकारिता प्रभावित नहीं होती।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम में जिला, राज्य तथा राष्ट्रीय स्तरों पर परिवाद निवारण न्यायालयों की स्थापना का विधान है; इस प्रकार यह उपभोक्ताओं को शिकायत दर्ज करने और त्वरित उपचार पाने के अधिक अवसर प्रदान करता है। इनमें परिवादों को निपटाने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल है किंतु MRTP अधिनियम की धारा 12 क की तरह उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम में रोक आदेश देने का कोई उपबंध नहीं है। इसके अतिरिक्त, उपभोक्ता न्यायालय प्रविरत रहने और पुनः न करने के आदेश नहीं दे सकते जबकि MRTP के उपबंधों के अधीन इस प्रकार के आदेश दिए जा सकते हैं।

MRTP आयोग के पास किसी अवरोधक, अनुचित या एकाधिकारी व्यापार व्यवहार

की जांच करने की अधिकारिता है। अवरोधक अथवा अनुचित व्यापार व्यवहार के अभिकथन निम्नलिखित चार स्रोतों में से किसी से भी आ सकते हैं :

1. किसी व्यापार संघ या किसी उपभोक्ता या किसी उपभोक्ता संघ से प्राप्त परिवाद, उपभोक्ता चाहे उस उपभोक्ता संघ का सदस्य हो या नहीं;
2. केंद्रीय अथवा राज्य सरकारों से प्राप्त परिवाद;
3. महानिदेशक द्वारा दिए गए आवेदन पत्र; या
4. आयोग की अपनी जानकारी अथवा सूचना।

निम्नलिखित व्यवहारों को अनुचित व्यापार व्यवहार के रूप में परिभाषित किया गया हैं, जिनकी जांच आयोग कर सकता है :

1. मौखिक अथवा लिखित रूप से या दृश्यरूपेण कोई ऐसा कथन करने का व्यवहार जो :
   - क. यह मिथ्या व्यपदेशन करता है कि माल किसी विशेष स्तरमान, गुण, श्रेणी, रचना, अभिमान या माडल का है;
   - ख. यह मिथ्या व्यपदेशन करता है कि सेवाएं किसी विशिष्ट स्तरमान, गुण या श्रेणी की हैं;
   - ग. किसी पुनर्निर्मित, बरते हुए, नवीकृत, दुरुस्त किए गए या पुराने माल के नया माल होने का मिथ्या व्यपदेशन करता है;
   - घ. यह व्यपदेशन करता है कि माल या सेवाएं प्रायोजित या अनुमोदित हैं या उनके द्वारा निष्पादित कार्य, लक्षण, उपसाधन, उपयोग अथवा फायदे अमुक अमुक हैं जबकि वस्तुतया ऐसा नहीं है;
   - ङ. यह व्यपदेशन करता है कि विक्रेता या प्रदायकर्ता किसी के द्वारा प्रायोजित, अनुमोदित अथवा उससे संबद्ध है जबकि उस विक्रेता अथवा प्रदायकर्ता के संबंध में ऐसा कुछ नहीं है;
   - च. किसी माल या सेवाओं की आवश्यकता या उपयोगिता के संबंध में मिथ्या अथवा भ्रामक व्यपदेशन करता है;
   - छ. जनता को किसी उत्पाद के या किसी माल के निष्पादन, प्रभावकारिता या अस्तित्व की दीर्घता की ऐसी, जो उसके पर्याप्त अथवा उपयुक्त परीक्षण पर आधारित नहीं है कोई वारंटी या प्रत्याभूति देता है; परंतु यदि इस आशय की प्रतिरक्षा की जाए कि ऐसी वारंटी या प्रत्याभूति पर्याप्त या समुचित परीक्षण पर आधारित है तो उसे साबित करने का भार उस व्यक्ति पर होगा जो ऐसी प्रतिरक्षा ले रहा है;
   - ज. जनता को इस रूप में व्यपदेशन करता है जो

i. किसी उत्पाद या माल या सेवाओं की वारंटी या प्रत्याभूति; या

ii. किसी वस्तु अथवा उसके किसी भाग को बदलने, उसके अनुरक्षण या उसकी मरम्मत करने अथवा एक निर्दिष्ट परिणाम मिलने तक किसी सेवा को दुहराते रहने या जारी रखने का वचन देने के लिए तात्पर्यित है, यदि ऐसी तात्पर्यित वारंटी या प्रत्याभूति या वचन तत्वतः भ्रामक है अथवा इस बात की कोई युक्तियुक्त आशा नहीं है कि इस वारंटी, प्रत्याभूति या वचन को पूरा किया जाएगा;

झ. किसी उत्पाद या समरूप उत्पाद या वस्तुओं या सेवाओं की उस कीमत के बारे में जिस पर वह सामान्यतया बेची अथवा प्रदान की गई है या की जा रही है, जनता को तत्वतः भ्रम में डालना; इस प्रयोजन के लिए, व्यपदिष्ट कीमत वह कीमत मानी जाएगी जिस पर वह उत्पाद अथवा वस्तुएं अथवा सेवाएं सुसंगत बाजार में विक्रेता द्वारा बेची गई हैं या बेची जा रही हैं या प्रदायकर्ता द्वारा उपलब्ध कराई गई अथवा कराई जा रही हैं, जब तक कि यह स्पष्टतया विनिर्दिष्ट न हो कि यह वह कीमत है जिस पर यह उत्पाद अथवा सेवा उस व्यक्ति द्वारा बेची अथवा प्रदान की गई है जिसने या जिसकी ओर से यह व्यपदेशन किया गया है;

ञ. किसी अन्य व्यक्ति के माल, सेवाओं अथवा व्यापार की निंदा करने वाले मिथ्या अथवा भ्रामक तथ्यों की प्रस्तुति;

2. किसी माल या सेवाओं को रियायती कीमत पर बेचने या प्रदाय के लिए किसी समाचारपत्र में या अन्य तरीके से विज्ञापन प्रकाशित करना जबकि उस व्यवसाय के बाजार, व्यवसाय की प्रकृति तथा आकार और विज्ञापन की प्रकृति को देखते हुए उन्हें उस रियायती कीमत पर या उतनी अवधि तक या उतनी मात्रा में बेचने या प्रदाय करने का वस्तुतया आशय न हो।

3 क. उपहार, इनाम तथा अन्य चीजें देने का प्रस्ताव जबकि वस्तुतः इन्हें प्रस्ताव के अनुसार देने का आशय नहीं है या ऐसा प्रभाव उत्पन्न करना कि कोई चीज मुफ्त में दी अथवा प्रस्तावित की जा रही है जबकि वह वस्तुतया संपूर्ण व्यवहार के लिए वसूल की जाने वाली राशि में अंशतः अथवा पूर्णतः सम्मिलित है।

ख. किसी उत्पाद या व्यावसायिक हित की बिक्री, प्रयोग या प्रदाय के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संवर्धन की दृष्टि से कोई प्रतियोगिता, लाटरी, संयोग या कौशल पर आधारित खेल का संचालन।

4. यह जानते हुए अथवा विश्वास करने का कारण होते हुए कि किसी वस्तु विशेष

का उपयोग करने वाले व्यक्ति को क्षति के जोखिम का निवारण करने या कम करने के लिए सक्षम प्राधिकारी ने उसके कार्य-निष्पादन, संरचना, अंतर्वस्तु, डिजायनों, सन्निर्माण, परिरूप या पैक करने के बारे में जो मानक निर्धारित किए हैं, उसकी वस्तु उन मानकों के अनुसार नहीं है, उपभोक्ताओं के उपयोग या संभावित उपयोग के लिए उस माल की बिक्री या प्रदाय।

5. किसी वस्तु की जमाखोरी, नाश या बेचने या बिक्री के लिए उपलब्ध करने से इनकार या किसी सेवा को प्रदान करने से इनकार, यदि ऐसी जमाखोरी, नाश अथवा इनकार उस या उस जैसी वस्तुओं या सेवाओं की लागत को बढ़ाता है अथवा बढ़ाने की ओर प्रवृत्त करता है अथवा बढ़ाने के आशय से किया गया है।

MRTP अधिनियम को 1984 में संशोधित किया गया है और आयोग को अधिक शक्तियां प्रदान की गई हैं; सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को पहली बार MRTP अधिनियम की परिधि में लाया गया है।

आयोग को उन कंपनियों के विरुद्ध अस्थायी व्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है जो अवरोधक व्यापार व्यवहार कर रही हैं। पहले के उपबंध में एक बचने का रास्ता था जिससे उच्च न्यायालयों को उन मामलों में MRTP आयोग को व्यादेश जारी करने की शक्ति का उपयोग करने से रोकने का अवसर मिल जाता था जिनमें आयोग ने अपराधी पक्ष के विरुद्ध कोई जांच शुरू नहीं की थी। अब जो संशोधन किया गया है, उसमें एक स्पष्टीकरण जोड़ा गया है जिससे आयोग को इस बात की अनुमति है कि वह अपराधी पक्ष को पूर्व सूचना दिए बिना अस्थायी व्यादेश दे सके।

भूसंपत्ति विकसित करने वाले तथा चिट फंड भी इस अधिनियम की परिधि में ले आए गए हैं। स्थावर संपत्ति का विकास करने वालों के मामले में MRTP को भूतलक्षी प्रभाव से अधिकारिता प्रदान की गई है ताकि अवरोधक या अनुचित व्यापारिक व्यवहार, मान लीजिए, दस वर्ष पहले भी किया गया हो तो भी आयोग उसकी छानबीन कर सके। पिछले वर्षों के दौरान, जब से अनुचित व्यापारिक व्यवहार संबंधी नियामक उपबंध MRTP अधिनियम में सम्मिलित किए हैं, इस क्षेत्र में विशाल निर्णय विधि का निर्माण हुआ है।

आयोग के समक्ष होने वाली कार्रवाई पूर्णतया न्यायिक होती है और विधि के प्रश्न पर अपील सीधे भारत के उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। जांच कराने की विधि बहुत कुछ सामान्य न्यायालय की कार्रवाइयों के समान होती है और अन्वेषण के दौरान अपनाई गई प्रक्रिया पूरी तरह नैसर्गिक न्याय के नियमों के अनुसार होती है। आयोग की प्रक्रिया ब्यौरेवार विनियमों द्वारा विहित है। लिखित पक्षकथन के अलावा मौखिक तर्क विस्तार से सुने जाते हैं। विचारण-पूर्व प्रक्रिया इसके अलावा और कुछ नहीं है कि महानिदेशक

द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के दौरान कुछ मामलों में शिकायत का निपटारा सौहार्द्रपूर्ण तरीके से हो जाता है।

यदि आयोग के आदेशों का उल्लंघन होता है तो उसे न्यायालय के अवमान की कार्रवाई की शक्तियां विशेष रूप से प्रदान की गई हैं।

उपभोक्ताओं के संरक्षण के लिए आयोग

1969 में, संसद ने एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापार व्यवहार(MRTP) अधिनियम पारित किया जिससे एकाधिकार आयोग की स्थापना हुई। इस आयोग को एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार संबंधी परिवादों को विचारार्थ स्वीकार करने की शक्तियां प्रदान की गईं और बाद में, 1984 में, संशोधन अधिनियम के द्वारा अनुचित व्यापार व्यवहार को भी इसकी अधिकारिता में जोड़ दिया गया। किंतु यह अनुभव हुआ किMRTP आयोग को प्रदत्त शक्तियां उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष रूप से संरक्षण प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि आयोग की स्थापना का मुख्य उद्देश्य इस आशा से प्रतियोगिता का विनियमन करना था कि इसके फलस्वरूप उचित आचरण को बढ़ावा मिलेगा, जिसके सुपरिणाम अंततः उपभोक्ता तक पहुंचेंगे। अतः उपभोक्ताओं के हितों के बेहतर संरक्षण के लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 लागू किया गया। इसे 24 दिसंबर, 1986 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई। इस अधिनियम के अंतर्गत व्यापार में धोखाधड़ी, प्रतिबंधित व्यापार, खराब सामान की बिक्री तथा चिकित्सा एवं अन्य दोषपूर्ण सेवाओं से संबंधित उपभोक्ताओं की शिकायतों का निपटारा करने के लिए तीन स्तरों की एक प्रणाली स्थापित की गई है :

1. *जिला स्तर का न्यायालय* : ये न्यायालय संबंधित राज्य सरकारों द्वारा केंद्र सरकार के अनुमोदन से राज्य के प्रत्येक जिले में स्थापित किए जाते हैं;
2. *राज्य आयोग* : राज्य सरकार द्वारा केंद्र सरकार के अनुमोदन से प्रत्येक राज्य में एक राज्य आयोग की स्थापना की जाती है;
3. *राष्ट्रीय आयोग* : केंद्र सरकार ने समूचे देश के लिए एक राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग स्थापित किया है जो नई दिल्ली में अवस्थित है।

जिला स्तर के आयोग की अधिकारिता उपभोक्ताओं की उन सभी शिकायतों की सुनवाई करने तक सीमित है जिनमें माल तथा सेवाओं का मूल्य और प्रतिपूर्ति, यदि कोई मांगी गई हो, 5,00,000 रुपये से कम है।

राज्य आयोग उन शिकायतों को विचारार्थ स्वीकार करता है जिनमें माल और सेवाओं का मूल्य और प्रतिपूर्ति, यदि कोई मांगी गई हो, 5,00,000 से अधिक है किंतु 20,00,000 से अधिक नहीं है। यह राज्य के भीतर कार्यरत जिला स्तर के न्यायालयों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई भी करता है। इसे पुनरीक्षण करने की भी शक्ति है। इसके अलावा, यह किसी ऐसे उपभोक्ता विवाद में अभिलेख मंगाकर उपयुक्त आदेश पारित कर सकता है जो इसके पास लंबित हो या जिसका फैसला राज्य के किसी जिला स्तर के उपभोक्ता संरक्षण न्यायालय द्वारा किया जा चुका हो और उसमें राज्य आयोग को यह लगता हो कि जिला स्तर के

न्यायालय ने ऐसी अधिकारिता का प्रयोग किया है जो विधि द्वारा उसे प्रदान नहीं की गई है; या वह विधि द्वारा प्रदत्त अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा है या उसने अपनी अधिकारिता का प्रयोग अवैध रीति से या तात्विक अनियमितता के साथ किया है।

राष्ट्रीय आयोग को ऐसी शिकायतों को विचारार्थ स्वीकार करने की आरंभिक अधिकारिता भी प्राप्त है जिनमें वस्तुओं या सेवाओं का मूल्य अथवा प्रतिपूर्ति के दावे की रकम रु. 20,00,000 से अधिक हो। इसे राज्य आयोग के आदेश से व्यथित किसी व्यक्ति को अपील की सुनवाई करने का अधिकार है और पुनरीक्षण की शक्तियां भी हैं।

राष्ट्रीय आयोग के आदेश के विरुद्ध अपील अधिनियम की धारा 23 के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय में किए जाने का उपबंध है। ऐसी अपील आदेश पारित होने की तारीख के 30 दिन के भीतर की जानी चाहिए। उपभोक्ता न्यायालय उपभोक्ताओं की बहुमूल्य सेवा करते हैं। इनमें दोषपूर्ण सेवा के लिए परिवाद किया जा सकता है। साथ ही, सरकार, लोक उपक्रमों, बैंकों, विद्युत बोर्डों, आवास मंडलों, जीवन बीमा निगम, भवन निर्माताओं, विनिर्माताओं और निजी उपक्रमों आदि के विरुद्ध शिकायतें लाई जा सकती हैं। एकाधिकार आयोग और उपभोक्ता न्यायालयों की अधिकारिता कुछ हद तक अंशाच्छादी है पर उपभोक्ता न्यायालयों का मुख्य लाभ यह है कि भारत में सर्वत्र शिकायत का निवारण कराया जा सकता है जबकि एकाधिकार आयोग केवल दिल्ली में अवस्थित है। इसमें संदेह नहीं कि यदि ठीक से उपयोग किया जाए और प्रशासित किया जाए तो उपभोक्ता न्यायालय बड़े सशक्त और महत्वपूर्ण न्यायालय हैं। ये साक्ष्य और सिविल प्रक्रिया के भारी-भरकम नियमों से बंधे नहीं हैं। यह एक त्वरित और कमखर्च उपचार व्यवस्था है क्योंकि इसमें कोई न्यायालय शुल्क नहीं देना पड़ता। कोई व्यक्ति या कोई मान्यताप्राप्त उपभोक्ता संघ आम उपभोक्ताओं की ओर से इस न्यायालय की शरण में जा सकता है।

हाल के वर्षों में, आयोग ने कई बड़े महत्वपूर्ण एवं विविध मामलों पर निर्णय सुनाए हैं जो आम लोगों के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए, उत्पादों के उपभोक्ता, रेल और हवाई यात्री, टेलीफोन ग्राहक, बिजली उपभोक्ता, बीमादार, विभिन्न वस्तुओं के क्रेता, वाहनों का प्रयोग करने वाले और वे उपभोक्ता जो सेवाएं किराए पर लेते हैं, आदि।

सेना न्यायालय द्वारा विचारण

भारत के संविधान ने थलसेना अधिनियम 1950, वायुसेना अधिनियम 1950 और नौसेना अधिनियम 1957 के अधीन किए गए अपराधों को अनुच्छेद 136(2) के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता से और अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता से विशेष रूप से अपवर्जित कर दिया है। इसी प्रकार, भारतीय दंड संहिता/दंड प्रक्रिया संहिता उपर्युक्त अधिनियमों के अधीन रक्षा कार्मिकों द्वारा किए गए अपराधों के बारे में दांडिक न्यायालयों को अधिकारिता प्रदान नहीं करती। ऐसे व्यक्तियों तथा अपराधों का विचारण जिस न्यायालय द्वारा किया जाता है, उसे सेना न्यायालय कहते हैं। यदि सैनिक बलों का कोई कर्मी स्थानीय पुलिस द्वारा पकड़ कर अभिरक्षा में रख लिया जाए तो भी दंड प्रक्रिया संहिता में यह उपबंध किया गया है कि उसे सेना न्यायालय द्वारा विचारण के लिए सैनिक प्राधिकारियों को सौंप देना चाहिए। विधिक अधिकरण होते हुए भी, सेना न्यायालय देश के न्यायिक तंत्र का अंग नहीं है। फिर भी, यह एकमात्र न्यायालय है जिसमें सैनिक अपराध का विचारण, अवधारण करके दंडित किया जा सकता है। इसमें उच्चतर सिविल न्यायालयों, अर्थात उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की कोई अपीली अधिकारिता नहीं है और सेना न्यायालय द्वारा दिए गए दंड के विरुद्ध किसी सिविल न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। बस, एक ही मार्ग है जिसके द्वारा किसी कोर्ट मार्शल के निर्णय या कार्रवाई को, सीमित विस्तार में, चुनौती दी जा सकती है और वह है संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन क्रमशः उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता का प्रयोग करते हुए।

सिविल प्रक्रिया के अर्थ में सेना न्यायालय एक न्यायालय है और उसके समक्ष कार्रवाई न्यायिक कार्रवाई है। साधारण न्यायालय के समान सेना न्यायालय भी नैसर्गिक न्याय के मूल सिद्धांतों से बंधा है। इस विषय पर सैनिक संहिता में विशेष उपबंध के अभाव में यह अपेक्षा है कि सेना न्यायालय सिविल न्यायालयों के समान ही साक्ष्य के नियमों का पालन करेगा।

सैनिक विधि में चार भिन्न भिन्न प्रकार के सेना न्यायालय हैं :

1. सामान्य सेना न्यायालय
2. जिला सेना न्यायालय
3. संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय
4. संक्षिप्त सेना न्यायालय

सामान्य सेना न्यायालय सर्वोच्च सेना न्यायालय है और इसे थलसेनाध्यक्ष के अधिपत्र द्वारा केंद्र सरकार या थलसेनाध्यक्ष द्वारा बुलाया जा सकता है। सामान्य सेना

न्यायालय में कम से कम पांच अधिकारी बैठने चाहिए। सामान्य सेना न्यायालय उपर्युक्त अधिनियमों के अधीन किन्हीं सेनाकर्मियों पर उनके अधीन दंडनीय अपराध के लिए विचारण कर सकता है और उन्हें दंड दे सकता है। इस प्रकार के सेना न्यायालय अपनी ही कमान के अधिकारियों और कर्मचारियों के विचारण के लिए बिठाए जाते हैं।.

जिला सेना न्यायालय किसी ऐसे अधिकारी द्वारा जिसे सामान्य सेना न्यायालय संयोजित करने का अधिकार है या इसके लिए शक्तिप्राप्त किसी अन्य अधिकारी द्वारा संयोजित किया जा सकता है। यह अधिनियम में दंडनीय किसी अपराध के लिए किसी अधिकारी या जे.सी.ओ. का विचारण कर सकता है और मृत्युदंड, आजीवन कारावास या दो वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर अधिनियम द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंड दे सकता है।

संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय केंद्र सरकार के आदेश द्वारा शक्ति प्रदत्त अधिकारी या सेनाध्यक्षों या ऐसे ही अन्य अधिकारियों द्वारा संयोजित किया जा सकता है। संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय में कम से कम तीन अधिकारी होते हैं। इसकी शक्तियां सामान्य सेना न्यायालय के समान ही हैं और यह भी अधिनियम के अधीन उसमें दंडनीय किसी अपराध के लिए किसी व्यक्ति का विचारण कर सकता है और अधिनियम में प्राधिकृत कोई दंड दे सकता है।

संक्षिप्त सेना न्यायालय किसी कोर विभाग या नियमित सेना की उस टुकड़ी के कमान अफसर की अध्यक्षता में लगाया जाता है जिससे अभियुक्त संवद्ध है। संक्षिप्त सेना न्यायालय की कार्रवाइयों में आद्योपांत कम से कम दो और व्यक्ति उपस्थित रहते हैं जो या तो अधिकारी स्तर के होते हैं या जे.सी.ओ. अथवा दोनों स्तरों के एक एक। संक्षिप्त सेना न्यायालय अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी भी अपराध का विचारण कर सकता है। यदि कोई ऐसे गंभीर कारण हों जिन पर तत्काल कार्रवाई करना आवश्यक हो तो संक्षिप्त सेना न्यायालय किसी अधिकारी, जे.सी.ओ. या वारंट अफसर के अतिरिक्त सेना न्यायालय लगाने वाले किसी अन्य अफसर की कमान के अधीन किए गए अपराधों का विचारण भी कर सकता है। संक्षिप्त सेना न्यायालय मृत्युदंड, आजीवन कारावास या एक वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर, ऐसा कोई भी दंड दे सकता है जो आरोपित अपराध के लिए अधिनियम के अधीन दिया जा सकता है। सेना न्यायालय को गठित करने वाले व्यक्तियों की अर्हताएं संबंधित अधिनियमों में निर्धारित हैं।

सशस्त्र बलों में एक पद है जिसे न्यायाधीश महाधिवक्ता कहा जाता है। अधिनियमों में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक सामान्य सेना न्यायालय और प्रत्येक डिस्ट्रिक्ट या संक्षिप्त सेना न्यायालय में न्यायाधीश महाधिवक्ता के विभाग का न्यायाधीश अधिवक्ता उपस्थित रहेगा या यदि ऐसा अधिकारी उपलब्ध न हो तो न्यायाधीश महाधिवक्ता या उसके

अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा अनुमोदित कोई अन्य अधिकारी उपस्थित रहेगा। उसकी भूमिका सलाहकार की है और अभियोजक तथा अभियुक्त दोनों को हर समय, न्यायालय के भीतर और बाहर विधि के प्रश्नों पर उसकी राय जानने का हक हैं।

न्यायाधीश अधिवक्ता के कार्य इस प्रकार हैं :

1. किसी सेना न्यायालय में कार्य करने के लिए नामित हो जाने के बाद, अभियोजन पक्ष तथा अभियुक्त, दोनों को, हर समय, आरोप अथवा विचारण से संबंधित विधि के किसी प्रश्न पर उसकी राय जानने का हक है, भले ही वह न्यायालय में उपस्थित हो या न्यायालय के बाहर हो। यदि वह न्यायालय में है तो उसकी राय न्यायालय की अनुमति लेकर ही प्राप्त की जा सकती है;
2. यदि आरोप या कार्रवाइयों में कोई अनियमितता है तो यह उसका उत्तरदायित्व है कि न्यायालय को इसकी जानकारी दे। यदि आरोप अथवा न्यायालय के गठन में कोई त्रुटि या दोष हो तो उसे संयोजक अधिकारी और न्यायालय को इसकी जानकारी देनी चाहिए, चाहे उससे यह पूछा गया हो या नहीं। साथ ही, उसे न्यायालय के समक्ष किसी भी विषय पर अपनी सलाह देनी चाहिए;
3. विचारण के दौरान उठने वाले विधि, व्यवहार या प्रक्रिया के किसी प्रश्न पर यदि न्यायालय उससे पूछे तो उसे अपनी राय देनी होगी;
4. संबोधनों की समाप्ति के बाद, न्यायाधीश अधिवक्ता साक्ष्य का समाहार करता है और न्यायालय अपने निष्कर्षों पर विचार करने के लिए उठे इससे पहले, उस मामले से संबंधित विधि के बारे में न्यायालय को अपनी सलाह देता हैं;
5. न्यायालय की अध्यक्षता करने वाले अधिकारी के समान, न्यायाधीश अधिवक्ता का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि अभियुक्त अपनी स्थिति, अज्ञान या साक्षियों के परीक्षण अथवा प्रतिरक्षा की अपनी असामर्थ्य या अन्य किसी कारण से नुकसान न उठाए और इस प्रयोजन के लिए, सचाई का पता लगाने के लिए आवश्यक अथवा वांछनीय समझे तो, न्यायालय की अनुमति लेकर, साक्षियों को बुलाए और उनसे प्रश्न करे;
6. वह जिस समय, तारीख और स्थान पर सेना न्यायालय बैठ रहा है, वहां अभियोजन पक्ष और अभियुक्त, दोनों के लिए साक्षियों को हाजिर होने के लिए समन करता है।

अपने कर्तव्यों के निर्वाह में न्यायाधीश अधिवक्ता को पूरी निष्पक्षता बरतना जरूरी है। उसके लिए जरूरी है कि वह स्वयं को न्याय का अभिकर्ता समझे और उसी विस्तार तक हस्तक्षेप करे जिस विस्तार तक करने के लिए स्वयं न्यायालय बाध्य है। बंदी के प्रति अपने कर्तव्य के विषय में वह उससे अधिक कुछ करने के लिए बाध्य नहीं है जितना कि

स्वयं न्यायालय द्वारा किया जा रहा है। न्यायालय न्याय देने के लिए होता है। इस बात का ध्यान रखना उसका उत्तरदायित्व है कि वादी अपने अज्ञान, अनुभवहीनता अथवा असामर्थ्य के कारण किसी नुकसान में न रहे।

न्यायिक समीक्षा और अपील पुनरीक्षण

उपर्युक्त अधिनियमों के अधीन, किसी अधिनियम के अध्यधीन कोई व्यक्ति जो किसी सेना न्यायालय द्वारा पारित किसी आदेश द्वारा शासित है, उस सेना न्यायालय के निष्कर्ष या उसके द्वारा दिए गए दंड की पुष्टि करने की शक्ति से संपन्न अधिकारी या प्राधिकारी को याचिका प्रस्तुत कर सकता है और पुष्टिकर्ता प्राधिकारी सेना न्यायालय द्वारा पारित आदेश की यथार्थता, वैधता अथवा उपयुक्तता या उस आदेश से संबंधित किसी कार्रवाई और दिए गए दंड की नियमितता के विषय में स्वयं को संतुष्ट करने के लिए जो भी कदम उठाना आवश्यक समझे, उठा सकता है। कोई व्यक्ति जो सेना न्यायालय के निष्कर्ष या उसके द्वारा दिए गए ऐसे दंड से जिसकी पुष्टि हो चुकी है, व्यथित है केंद्र सरकार, थल सेनाध्यक्ष अथवा किसी ऐसे विहित अधिकारी को जो कमान में उस अधिकारी से वरिष्ठ हो जिसने इस प्रकार के निष्कर्ष अथवा दंड की पुष्टि की है, आगे और एक याचिका प्रस्तुत कर सकता है जिस पर याचिका ग्रहण करने वाला अधिकारी जो उचित समझे, आदेश दे सकता है। सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि के द्वारा अथवा उसके अधीन गठित किसी अधिकरण द्वारा किसी हेतुक या मामले पर दिए गए निर्णय, डिक्री या अवधारण, दंड अथवा आदेश के विरुद्ध अपील करने की अनुमति देने से भारत के संविधान ने उच्चतम न्यायालय को स्पष्टतया अपवर्जित कर दिया है। इसी प्रकार, उच्च न्यायालयों को सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि के द्वारा अथवा उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण का अधीक्षण करने की शक्तियों का प्रयोग करने से निवारित कर दिया गया है। सिविल न्यायालयों के अहस्तक्षेप के पीछे तर्क स्पष्टतया इस विचार पर आधारित है कि सैनिक अधिकरणों को विवाद की पूरी जानकारी है और वे अभियुक्त तथा अभियोजकों के प्रति उचित तथा निष्पक्ष न्याय करेंगे।

अपील का अधिकार न होने पर भी, सैनिक अधिकरण, एक सीमा तक, उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के नियंत्रण और पर्यवेक्षण के अधीन हैं।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन भारत के उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए अपनी अधिकारिता वाले पूरे राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को कोई निदेश, आदेश या बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध या अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण जैसी रिटें या इनमें से कोई भी जारी करने की शक्ति है। संविधान के अनुच्छेद 136(2) और 227 की रोक का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 32 या 226 में नहीं है और इस प्रकार, सेना

न्यायालय भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की तथा अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की रिट अधिकारिता के अध्यधीन हैं। संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की और अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की रिट अधिकारिताओं के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है। वह यह कि जहां उच्च न्यायालय संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही अपनी रिट अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है वहां उच्च न्यायालय की अधिकारिता कहीं अधिक व्यापक है और वह केवल मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही नहीं बल्कि किसी भी अन्य प्रयोजन से रिट प्रदान कर सकता है।

यदि सेना अधिनियम के अधीन दंडित कोई अधिकारी/व्यक्ति अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की शरण में जाता है और उच्च न्यायालय उस मामले पर अपना निर्णय दे देता है तो संबंधित पक्षों में से कोई भी पक्ष संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में जा सकता है। तब यह मामला सेना न्यायालय के अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील नहीं माना जाएगा बल्कि उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील माना जाएगा।

सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क तथा स्वर्ण (नियंत्रण) अपील अधिकरण

सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क तथा स्वर्ण (नियंत्रण) अपील अधिकरण (संक्षेप में CEGAT) की स्थापना 1982 में हुई थी और इसने कार्य करना 12 अक्तूबर 1982 से आरंभ किया। उत्पाद शुल्क, सीमा शुल्क और स्वर्ण नियंत्रण से संबंधित मामलों की अपील सुनने वाला यह सर्वोच्च अधिकरण है। इसकी स्थापना से पहले, संबंधित पक्ष (अपील कलक्टर के यहां अपीलें खारिज हो जाने के बाद) केंद्रीय उत्पाद शुल्क और सीमा शुल्क बोर्ड के समक्ष अपील कर सकते थे और उसके बाद केंद्र सरकार को पुनरीक्षण आवेदन दे सकते थे।

CEGAT में न्यायिक तथा तकनीकी सदस्य होते हैं। उनकी अर्हताएं अधिनियम में विहित हैं। सदस्यों में एक व्यक्ति CEGAT का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है; उपाध्यक्ष तथा वरिष्ठ उपाध्यक्षों की नियुक्ति भी सदस्यों में से की जाती है।

इस अधिकरण की अधिकारिता सीमा शुल्क अधिनियम 1962 के अध्याय 4, केंद्रीय उत्पाद शुल्क और नमक अधिनियम 1944 के अध्याय 6 क, और स्वर्ण नियंत्रण अधिनियम 1968 के अध्याय 14 में समाविष्ट है। CEGAT में अपील करने से संबंधित उपबंध उक्त तीनों अधिनियमों में लगभग एक जैसे हैं। मुख्य उपबंध सीमा शुल्क अधिनियम में दिए गए हैं और केंद्रीय उत्पाद शुल्क तथा स्वर्ण नियंत्रण अधिनियम के लिए भी वे ही लागू कर दिए गए हैं।

अधिकरण की अधिकारिता सीमा शुल्क अधिनियम की धारा 129 क, केंद्रीय उत्पाद शुल्क और नमक अधिनियम की धारा 35 ख और स्वर्ण नियंत्रण अधिनियम की धारा 81 में दी गई है।

CEGAT के समक्ष अपीलें विहित प्रारूप में फाइल की जाती हैं। अपील की सुनवाई होने तक सामान्यतया रोक आदेश दे दिया जाता है जिससे कि अपील की सुनवाई के पहले ही मांग राशि जमा करने से अपीलकर्ता को जो असम्यक कष्ट उठाना पड़ सकता है, वह न हो।

यदि किसी मामले में पीठ के सदस्यों के बीच किसी बात को लेकर मतभेद हो तो मामला अध्यक्ष को भेज दिया जाता है। ऐसी स्थिति में, अध्यक्ष उस विषय पर निर्णय के लिए या तो मामले को अपने विचारार्थ ले लेता है या किसी तीसरे सदस्य को भेज देता है। अधिकरण केवल बहुमत के अनुसार ही आदेश पारित कर सकता है।

CEGAT को यह शक्ति है कि वह, संबंधित पक्षों को सुनने के बाद, अपने समक्ष की गई अपील पर कोई आदेश पारित कर सकता है अर्थात् वह पहले दिए गए आदेश

में उपांतरण कर सकता है, आंशिक राहत दे सकता है या निचले प्राधिकारियों के आदेशों को अपास्त कर सकता है, किंतु संबंधित पक्षों को उनकी बात सुनने का उपयुक्त अवसर दिए बिना वह किसी शुल्क की राशि अथवा माल के मूल्य आदि में कोई वृद्धि नहीं कर सकता।

इस अधिकरण के समक्ष होने वाली सभी कार्रवाइयों को भारतीय दंड संहिता 1860 की धारा 193 और 228 के अर्थ में और धारा 196 के प्रयोजनार्थ न्यायिक कार्रवाइयां माना जाता है। दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 195 और अध्याय 26 के प्रयोजनार्थ अधिकरण को सिविल न्यायालय माना जाता है। न्यायालय की अवमानना के प्रश्न पर अधिकरण को कोई शक्ति नहीं है। उन मामलों में जिनमें विवाद्यक वस्तुओं के मूल्यांकन, शुल्क के वर्गीकरण या उसकी दर से संबंधित हो CEGAT के आदेशों के विरुद्ध अपील सीधे उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है।

शेष सभी मामलों में, अधिकरण के आदेश अंतिम होते हैं क्योंकि उन मामलों पर यह तथ्य संबंधी अंतिम निकाय है। ऐसे आदेशों के विरुद्ध केवल उच्च न्यायालय को निर्देश किया जा सकता है। उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है और यदि उच्च न्यायालय उच्चतम न्यायालय में अपील के लिए उपयुक्तता का प्रमाणपत्र न दे तो विशेष अनुमति याचिका दी जा सकती है। सीमा शुल्क और केंद्रीय उत्पाद शुल्क अधिनियम के अधीन जिस प्रकार सांविधिक अपील की जा सकती है, स्वर्ण नियंत्रण अधिनियम के अधीन नहीं की जा सकती। इस अधिनियम के अधीन CEGAT के आदेशों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में केवल निर्देश किया जा सकता है। अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में विशेप इजाजत याचिका करने से संबंधित उपबंध सभी मामलों में समान रूप से लागू हैं।

CEGAT को अपने आदेश के पुनर्विलोकन की शक्ति नहीं है पर यदि अभिलेख देखने से यह प्रकट होता है कि उसके आदेश में त्रुटियां रह गई हैं तो CEGAT उनका सुधार कर सकता है, लेकिन ऐसा त्रुटि सुधार आदेश पारित किए जाने के चार वर्ष के भीतर कर दिया जाना चाहिए।

सिविल न्यायालयों से भिन्न, CEGAT के समक्ष प्राधिकृत प्रतिनिधि पेश हो सकते हैं जिसके अंतर्गत अपीलकर्ता के संबंधी या नियमित कर्मचारी हैं। साथ ही, किसी सिविल न्यायालय में पक्ष प्रस्तुत करने का हकदार विधि व्यवसायी या कोई अन्य व्यक्ति जिसने केंद्र सरकार द्वारा इस प्रयोजनार्थ विहित अर्हताएं अर्जित कर ली हैं, CEGAT के समक्ष उपस्थित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, सीमा शुल्क अधिनियम की धारा 146 के अधीन अनुज्ञप्त सीमा शुल्कालय अभिकर्ता भी CEGAT के समक्ष अपीलकर्ता के प्राधिकृत प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य कर सकता है।

सहकारी अपील न्यायालय

विभिन्न सहकारी सोसाइटी अधिनियमों के अधीन लगभग सभी राज्यों में राज्य सहकारी अपील न्यायालयों और अधिकरणों की स्थापना की गई है। सामान्यतया इनमें अध्यक्ष तथा उतनी संख्या में अन्य सदस्य होते हैं जो राज्य सरकारें समय समय पर आवश्यक समझें।

सहकारी सोसाइटी अधिनियमों के अधीन सहकारी न्यायालय स्थापित किए गए हैं जो सोसाइटी के संविधान, सोसाइटी की समितियों और उसके अधिकारियों के निर्वाचन (विनिर्दिष्ट सोसाइटियों की समितियों और अधिकारियों के निर्वाचन को छोड़कर) साधारण अधिवेशनों का संचालन, समिति के कारबार के प्रबंध से संबंधित विवादों की सुनवाई करते हैं। न्यायालयों के समक्ष इन कृत्यों को विवाद से संबंधित कोई पक्ष या सोसाइटी जिस परिसंघ सोसाइटी से संबद्ध है वह सोसाइटी या सोसाइटी का कोई लेनदार ला सकता है। सहकारी न्यायालय की अधिकारिता संबंधित राज्य या उसके किसी भाग पर होती है।

सहकारी सोसाइटी अधिनियम के अधीन किसी विवाद की सुनवाई करने वाले सहकारी न्यायालय को हितबद्ध पक्षों या उनमें से किसी को तथा अन्य साक्षियों को समन करने, अपने समक्ष उपस्थित कराने और शपथ पर साक्ष्य देने के लिए विवश करने आदि की वैसी ही शक्तियां प्रदान की गई हैं जैसी कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में सिविल न्यायालयों को हैं।

यदि कोई पक्ष सहकारी न्यायालय अथवा रजिस्ट्रार के किसी निर्णय या आदेश से व्यथित है तो वह सहकारी अपील न्यायालय में अपील कर सकता है। सहकारी अपील न्यायालयों द्वारा अपील या पुनरीक्षण में पारित किए गए आदेश अंतिम तथा निश्चायक होते हैं और इन पर किसी सिविल राजस्व न्यायालय में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। किंतु इससे अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता प्रभावित नहीं होती और समुचित मामलों में व्यथित पक्ष उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है।

निर्वाचन आयोग

संविधान के अनुच्छेद 324 में निर्वाचन आयोग नाम के एक स्वतंत्र निकाय के सृजन और उसे निम्नलिखित अनन्य शक्तियों से संपन्न करने का उपबंध है :

1. संसद तथा प्रत्येक राज्य के विधानमंडलों के सभी निर्वाचनों के लिए और राष्ट्रपति तथा उप राष्ट्रपति के पदों के निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावलियों की तैयारी का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण। 'अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण' शब्द निर्वाचन आयोग को उन आकस्मिकताओं में कदम उठाने की जिनके लिए विधि में कोई उपबंध नहीं है और निर्वाचन का संचालन करने के लिए आवश्यक आदेश पारित करने की शक्ति प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, दोबारा मतदान कराना या मतदान केंद्र चुनना; किसी विशेष निर्वाचन क्षेत्र से ऐसा क्षेत्र बाहर करके जो उसमें नहीं पड़ता, निर्वाचक नामावली के विशेष पुनरीक्षण का निदेश देना। ये शक्तियां संसद द्वारा अनुच्छेद 327 या 328 के अधीन बनाई गई विधि के अधीन हैं।
2. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 169 के अधीन निर्वाचन आयोग को राजनीतिक दलों को चिह्नों का नियतन करने से संबंधित विवादों का निर्णय करने और इस प्रयोजन के लिए दलों को मान्यता देने या मान्यता रद्द करने के लिए चिह्न आदेश जारी करने की सामर्थ्य प्राप्त है। इस संदर्भ में, आयोग को एक ही दल के भीतर प्रतिद्वंद्वी गुटों की स्थिति का अवधारण करने की शक्ति है और आयोग को इस प्रयोजन के लिए दलों के विलय या पृथक्करण के प्रभाव का अवधारण करने या एक ही राजनीतिक दल के भीतर अलग हुए गुटों के बीच उठने वाले विवादों का निर्णय करने का अधिकार है।
3. निर्वाचन आयोग राष्ट्रपति या राज्यपाल को संविधान के अनुच्छेद 103(2) और 192(2) के अधीन क्रमशः संसद अथवा विधानमंडल के सदस्य की अर्हता के प्रश्न पर परामर्श दे सकता है। संघ तथा राज्यों का पूरा निर्वाचनतंत्र इस केंद्रीकृत निकाय के हाथ में है और केवल वही निर्वाचक नामावलियों की तैयारी और पुनरीक्षण के काम में लगे निर्वाचन अधिकारियों, मतदान अधिकारियों तथा अन्य लोगों को यह सुनिश्चित करने के लिए निदेश जारी करने का हकदार है कि भारत के किसी नागरिक के साथ कोई स्थानीय सरकार अन्याय न कर सके। आयोग की सहायता के लिए क्षेत्रीय आयुक्त हैं जो राज्य सरकारों के नियंत्रण में नहीं होते अपितु सीधे निर्वाचन आयोग के अधीन होते हैं; इन्हें केवल मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर ही पदच्युत किया जा सकता है।

निर्वाचन आयोग कार्यपालिका से स्वतंत्र है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने के लिए महाभियोग का जो उपबंध है, उसी रीति से मुख्य निर्वाचन आयुक्त को हटाया जा सकता है अन्य किसी प्रकार से नहीं। निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति के बाद उसकी सेवा-शर्तों में उसके लिए अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

इन उपबंधों का उद्देश्य यह है कि निर्वाचन तस्समय सत्तासीन दल के नियंत्रण से मुक्त रहे क्योंकि इसे सुनिश्चित किए बिना प्रतिनिधित्व पर आधारित लोकतंत्र का कोई अर्थ ही नहीं है।

अपीलें

1. अनुच्छेद 136(1) के अर्थ में, निर्वाचन आयोग एक अधिकरण है क्योंकि इसका सृजन संविधान द्वारा हुआ है और इसे जो शक्तियां प्रदान की गई हैं उनमें से कुछ शक्तियां न्यायनिर्णयकारी हैं जैसे कि, निर्वाचन चिह्नों का नियतन और इनसे संबंधित विवादों का निर्णय। अतः आयोग के आदेशों के विरुद्ध अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत से अपील की जा सकती है।
2. यदि आयोग के किसी आदेश में संवैधानिकता का प्रश्न अंतर्वलित है तो उसे अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।
3. उच्च न्यायालयों सहित अन्य किसी न्यायालय को निर्वाचन आयोग पर नियंत्रण या उस पर अपीली अथवा अधीक्षण की शक्तियां नहीं हैं।

कुटुंब न्यायालय

1984 तक हिंदू, ईसाई, मुस्लिम और पारसी विधियों के अधीन विवाह-विच्छेद के वादों तथा भरण-पोषण की याचिकाओं पर निर्णय साधारण न्यायालय विशेषकर जिला न्यायालय द्वारा किए जाते थे जिन्हें संबंधित अधिनियमों द्वारा इस विषय पर अधिकारिता मिली हुई थी। इन न्यायालयों द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया क्रमशः सिविल प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता में दी गई थी। यह एक दुर्वह व्यवस्था थी और न्यायालयों को विधि के अधीन अपनी ओर से अन्वेषण करने की शक्ति नहीं थी। अतः इस तरह के वादों को अंतिम निर्णय तक पहुंचने में प्रायः बहुत समय लग जाता था।

इसलिए प्रभावी और कमखर्च उपचार उपलब्ध कराने की दृष्टि से कुटुंब न्यायालय अधिनियम, 1984 के अधीन कुटुंब न्यायालयों की स्थापना की गई। यह अधिनियम न्यायालय को अपने विवेक का प्रयोग करने और संबंधित पक्षों के बीच मैत्रीपूर्ण समझौता कराने की शक्तियां प्रदान करता है।

कुटुंब न्यायालयों की स्थापना के उद्देश्य और कारण हैं : विवाहों और पारिवारिक मामलों से संबंधित विवादों और उनसे संबद्ध विषयों के त्वरित निपटान के लिए सुलह की भावना को बढ़ावा देना।

वाद-विषय या कार्रवाइयों के संबंध में समझौते तक पहुंचने के लिए या जो आरोप एक पक्ष लगा रहा है और दूसरा इससे इनकार कर रहा है, उसमें से सचाई का पता लगाने के लिए परिवार न्यायालय अपनी प्रक्रिया स्वयं निर्धारित कर सकते हैं।

ये न्यायालय निम्नलिखित को विचारार्थ स्वीकार करते हैं :

1. विवाह के पक्षों के बीच विवाह की अकृतता (विवाह को अकृत और शून्य घोषित करने या, यथास्थिति, विवाह को निष्प्रभावी करने) अथवा न्यायिक पृथक्करण अथवा विवाह के विघटन की डिक्री के लिए वाद या कार्रवाई;
2. किसी विवाह की वैधता अथवा किसी व्यक्ति की वैवाहिक स्थिति के विषय में घोषणा कराने के लिए वाद या कार्रवाई;
3. विवाह के पक्षों के बीच उनकी संपत्ति या उनमें से किसी एक की संपत्ति के बारे में वाद या कार्रवाई;
4. वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न परिस्थितियों में किसी आदेश या व्यादेश के लिए वाद या कार्रवाई;
5. किसी व्यक्ति की धर्मजता के बारे में घोषणा के लिए वाद या कार्रवाई;
6. भरण-पोषण के लिए वाद या कार्रवाई;

7. व्यक्ति की अभिभावकता या किसी अवयस्क की अभिरक्षा, या उस तक पहुंच, के संबंध में वाद या कार्रवाई।

अधिनियम की धारा 5 और 6 के द्वारा न्यायालय को यह शक्ति दी गई है कि वह इस अधिकारिता को और भी कुशलतापूर्वक, प्रभावी ढंग से तथा अधिनियम के प्रयोजनों के अनुसार प्रयोग में लाने के लिए समाज कल्याण अभिकरणों और परामर्शदाताओं का सहयोग ले सके।

कुटुंब न्यायालय के प्रत्येक निर्णय अथवा आदेश—अंतर्वर्ती आदेश को छोड़कर—की अपील, तथ्यों तथा विधि दोनों के प्रश्नों पर, उच्च न्यायालय में की जा सकती है।

कुटुंब न्यायालय की एक विशेषता यह है कि इसमें वकीलों द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं होता। इन न्यायालयों के समक्ष चलने वाली कार्रवाइयों की प्रकृति सुलहकारी तथा परामर्शी है।

सामान्यतया, अधिकांश मामलों में, कुटुंब न्यायालय वकीलों के बिना ही अपना काम चलाते हैं। इससे जटिल प्रक्रियाओं और नियमों का अनुसरण करने में कुछ कठिनाई आ सकती है, किंतु यदि कोई कमी होती है तो वह कुटुंब संघों और परामर्शदाताओं की सेवाओं से पूरी की जा सकती है। न्यायाधीश त्वरित न्याय दे सकता है और सुलह करा सकता है। जटिल मामलों में, न्यायाधीश संबंधित पक्षों द्वारा इच्छा व्यक्त करने और मामले के शीघ्र निपटान के लिए जरूरी समझे तो वकीलों को पेश होने की अनुमति दे सकता है।

कुटुंब न्यायालयों की सफलता साधारण वादों की प्रक्रिया से हटने पर और ऐसी प्रक्रिया विकसित करने पर निर्भर करती है जिसमें बिना अधिक व्यय और समय लगाए सचाई और जानकारी मालूम की जा सके और त्वरित न्याय दिया जा सके।

इन न्यायालयों के निर्णयों और आदेशों के विरुद्ध अपीलें अन्य न्यायालयों में और अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं।

विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड

विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड की स्थापना विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 की धारा 52 में उपबंधित रीति से की गई है। कोई व्यक्ति जो विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 के अधीन भंग या अपराध के लिए उक्त अधिनियम की धारा 50 और 51 के अधीन पारित किसी अधिनियम के आदेश से व्यथित है, उक्त आदेशों के 45 दिन के भीतर, तथ्य और विधि दोनों के प्रश्नों पर, विदेशी मुद्रा विनियमन अपील बोर्ड के समक्ष अपील कर सकता है। बोर्ड का प्रमुख स्थान नई दिल्ली में है।

बोर्ड का एक अध्यक्ष है। यह ऐसा व्यक्ति होता है जो कम से कम दस वर्ष तक सिविल न्यायिक पद पर रहा हो या जो केंद्रीय विधिक सेवा, वर्ग I , का कम से कम तीन वर्ष तक सदस्य रहा हो या जिसने कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता के रूप में विधि व्यवसाय किया हो। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसमें अन्य व्यक्ति होते हैं जिन्हें सदस्य कहते हैं; इनकी संख्या चार से अधिक नहीं होती।

बोर्ड की शक्तियों और कृत्यों का अध्यक्ष तथा एक अन्य सदस्य अथवा अध्यक्ष द्वारा गठित दो सदस्यों की पीठ निर्वहन करती है।

बोर्ड को पुनरीक्षण करने की शक्तियां भी हैं। यह स्वप्रेरणा से अथवा अन्यथा, न्यायनिर्णायक अधिकारी के किसी आदेश की वैधता, औचित्य अथवा शुद्धता की जांच करने के लिए न्यायनिर्णायक अधिकारी के समक्ष हुई किन्हीं कार्रवाइयों का अभिलेख मंगा सकता है और ऐसा आदेश पारित कर सकता है जो वह ठीक समझे।

बोर्ड, संबंधित पक्षों को सुनने और जो अलिखित जांच उचित समझे वह कराने के बाद, अधिनिर्णय के आदेश की पुष्टि कर सकता है, उसमें उपांतर कर सकता है या उसे अपास्त कर सकता है।

CEGAT, एकाधिकार आयोग, उपभोक्ता परिवाद निवारण आयोग से भिन्न, इस बोर्ड के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में केवल विधि के प्रश्न पर ही अपील की जा सकती है, जो आदेश प्राप्त होने की तारीख के 60 दिन के भीतर कर दी जानी चाहिए।

बोर्ड के तथ्य संबंधी निष्कर्षों या जुर्माने अथवा दंड में वृद्धि अथवा कमी के आदेश को चुनौती देने वाली अपील का उपबंध नहीं है। विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड का आदेश ही अंतिम होता है। इन मामलों में, बोर्ड के आदेश या अपील में किए गए उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की असाधारण अधिकारिता के अधीन उच्चतम न्यायालय में जाने पर रोक कोई नहीं है।

तस्करों की जब्त संपत्ति के लिए अपील अधिकरण

1976 में केंद्र सरकार ने तस्कर तथा विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति जब्ती) अधिनियम पारित किया जिसका उद्देश्य तस्करों और विदेशी मुद्रा के छलसाधकों द्वारा अवैध रूप से अर्जित की गई संपत्ति की जब्ती के लिए उपबंध करना था। इस प्रकार की जब्ती केंद्र सरकार द्वारा उपर्युक्त अधिनियम के अधीन नियुक्त सक्षम प्राधिकारी के आदेश से की जा सकती है। इस प्राधिकारी को संपत्ति जब्त करने और कतिपय मामलों में उसके स्थान पर जुर्माना करने तथा किन्हीं न्यासों के विरुद्ध आरोप लगाए जाने की स्थिति में, इन न्यासों की संपत्तियों में निवेश के स्रोतों की जांच करने और ऐसी संपत्तियों को भी जब्त करने की शक्ति है।

अधिनियम के अनुसार व्यथित पक्ष उपर्युक्त किसी कार्रवाई के विरुद्ध एक अपील अधिकरण में अपील कर सकता है जिसका गठन केंद्र सरकार ने इस अधिनियम के अधीन अपीलों की सुनवाई के लिए किया है। अधिकरण में एक अध्यक्ष और केंद्र सरकार जितने आवश्यक समझे उतने सदस्य होते हैं। वर्तमान में, अधिकरण में एक अध्यक्ष और दो अन्य सदस्य हैं।

अधिकरण का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या कभी था या नियुक्त होने के लिए अर्हताप्राप्त है। अधिकरण का मुख्यालय दिल्ली में है और सभी अपीलों की सुनवाई सामान्यतया दिल्ली में ही होती है किंतु अध्यक्ष चाहे तो लोकहित में सुनवाई मुंबई, कलकत्ता, मद्रास या किसी अन्य स्थान पर भी हो सकती है।

अपील सक्षम प्राधिकारी के आदेश से 45 दिन के भीतर की जानी चाहिए। कुछ दशाओं में अधिकरण इस अवधि के पश्चात भी अपील ग्रहण कर सकता है किंतु पूर्वोक्त तारीख से 60 दिन के पश्चात नहीं कर सकता। अधिकरण में अपील करने के लिए कोई फीस नहीं देनी पड़ती।

अपील फाइल हो जाने पर, अधिकरण अपीलाधीन आदेश की पुष्टि कर सकता है अथवा उसे उपांतरित या अपास्त कर सकता है (किंतु यदि अपीलकर्ता चाहे तो उसे सुनवाई का अवसर देने और आगे ऐसी जांच करने के पश्चात जैसी वह ठीक समझे)। अधिकरण के समक्ष होने वाली सुनवाई जनता के लिए खुली नहीं होती। सुनवाई के दौरान अपीलकर्ता का प्रतिनिधित्व उसका प्राधिकृत प्रतिनिधि कर सकता है जो कंपनी सचिव, चार्टरित लेखाकार या अधिवक्ता हो सकता है। सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के अधीन वाद का विचारण करते समय अधिरकण के पास सिविल न्यायालय की शक्तियां होती हैं।

अपीलों का निर्णय करने में अपने प्राधिकार का प्रयोग करने के लिए अधिकरण सीमा शुल्क तथा केंद्रीय उत्पाद शुल्क विभाग, आयकर विभाग, विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 के अधीन नियुक्त प्रवर्तन निदेशालय तथा पुलिस विभाग की सहायता मांग सकता है।

अधिकरण द्वारा पारित किसी आदेश के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती और ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसके अवधारण की सामर्थ्य अधिकरण को है सिविल न्यायालय को अधिकारिता नहीं है। इस प्रकार यदि अपीलकर्ता अधिकरण के किसी आदेश से संतुष्ट नहीं है तो वह या तो अनुच्छेद 226 अथवा अनुच्छेद 32 के अधीन क्रमशः उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय में रिट याचिका प्रस्तुत कर सकता है या संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय जा सकता है।

आयकर अपील अधिकरण

आयकर अपील अधिकरण इस समय आयकर अधिनियम, 1961 के अधीन गठित है। इसमें उतने न्यायिक तथा लेखाकार सदस्य होते हैं जितने केंद्र सरकार उचित समझे। इनकी नियुक्ति केंद्र सरकार द्वारा की जाती है। इसका न्यायिक सदस्य वह व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता है-जो (क) भारत के राज्य क्षेत्र में कम से कम दस वर्ष तक किसी न्यायिक पद पर रहा है या (ख) जो कम से कम दस वर्ष से अधिवक्ता के रूप में कार्य कर रहा है। इसी प्रकार लेखाकार सदस्य के रूप में नियुक्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति या तो चार्टरित लेखाकार के रूप में 10 वर्ष से कार्य कर रहा हो या आयकर सेवा वर्ग 'क' का सदस्य है और तीन वर्ष तक आयकर आयुक्त के पद पर कार्यरत रहा है। अधिकरण का अध्यक्ष सामान्यतया न्यायिक सदस्यों में से नियुक्त किया जाता है। अधिकरण के पीठ अहमदाबाद, इलाहाबाद, मुंबई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास आदि नगरों में है। यह अधिकरण विधि मंत्रालय के अधीन कार्य करता है, वित्त मंत्रालय के अधीन नहीं। अतः यह कोई आयकर प्राधिकरण नहीं है। इससे इसके सदस्यों की निर्णय लेने की स्वतंत्रता सुनिश्चित होती है और कर निर्धारितियों में अधिकरण के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है।

उप-आयुक्त (अपील), उप-आयुक्त, आयुक्त (अपील), आयकर आयुक्त, मुख्य आयुक्त, महानिदेशक या किसी निदेशक के आदेश के विरुद्ध व्यथित पक्षकार 60 दिन के भीतर अधिकरण के समक्ष अपील कर सकता है। अधिकरण में अपील करने के लिए 1,00,000 रु. तक की आय वाले निर्धारितियों को मात्र 250 रु. फीस देनी होती है। 1,00,000 रु. से अधिक की आय वालों को 1500 रु. फीस देनी पड़ती है।

अपील के दोनों पक्षकारों को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के बाद ही अधिकरण मामले का निर्णय करता है। यदि पक्ष सुनवाई के समक्ष उपस्थित न हों तो या तो अपील स्थगित कर दी जाती है या उसकी एकपक्षीय सुनवाई की जाती है। निर्धारिती को स्वयं अथवा वकील आदि किसी प्राधिकृत अभिकर्ता के माध्यम से अधिकरण के समक्ष उपस्थित होने का हक है। अधिकरण न्यायालयों के मामले में लागू होने वाले साक्ष्य के नियमों से बंधा नहीं है और वह अपनी प्रक्रिया स्वयं विनियमित कर सकता है। वह पक्षों को मौखिक सुनवाई देकर उचित आदेश पारित करता है। अधिकरण के आदेश लिखित रूप में होते हैं और उस पर पीठ के सदस्य हस्ताक्षर करते हैं। ये आदेश निर्धारिती तथा आयकर आयुक्त, दोनों को प्रेषित किए जाते हैं।

अधिकरण के समक्ष होने वाली कार्रवाई न्यायिक कार्रवाई मानी जाती है और अधिकरण को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन सिविल न्यायालय की शक्तियां

हैं। वह मिथ्या साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले अथवा ऐसी साक्ष्य की कूट रचना करने वाले व्यक्तियों पर अभियोग चलाने का निदेश दे सकता है और उन्हें भारतीय दंड संहिता, 1860 के अधीन दंडित किया जा सकता है।

अधिकरण अपनी अवमानना के लिए उचित कार्रवाई भी कर सकता है। यह लेखाबहियों को परिबद्ध एवं प्रतिधारित कर सकता है। अधिकरण अपनी अपील अधिकारिता के प्रति प्रासंगिक अथवा आनुषंगिक मानते हुए किसी अपील का निर्णय होने तक वसूली की प्रक्रिया पर रोक भी लगा सकता है।

तथ्य के प्रश्नों पर अधिकरण के निर्णय अंतिम होते हैं। अधिनियम के अधीन विधि के प्रश्नों पर भी अधिकरण के निर्णय के विरुद्ध अपील करने का उपबंध नहीं है किंतु किसी भी पक्षकार के अनुरोध पर उच्च न्यायालय को निर्देश किया जाता है और यदि अधिकरण की राय में किसी विधिक प्रश्न पर उच्च न्यायालयों का मत भिन्न भिन्न है तो विधि के उस प्रश्न पर सीधे उच्चतम न्यायालय को निर्देश किया जा सकता है। अधिकरण द्वारा प्रेषित निर्देश के ऊपर उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील उस दशा में उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है जब उच्च न्यायालय उसे उच्चतम न्यायालय में अपील के योग्य होने का प्रमाणपत्र दे। व्यथित पक्ष किसी आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब ले सकता है।

औद्योगिक अधिकरण

यदि किसी औद्योगिक विवाद का संबंध या किसी रूप में सरोकार केंद्र सरकार से है तो औद्योगिक अधिकरण (औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अधीन) का गठन केंद्र सरकार करती है, किंतु जहां भारत सरकार का ऐसा कोई प्रत्यक्ष हित नहीं है वहां अधिकरण का गठन समुचित सरकार अर्थात राज्य सरकार द्वारा किया जा सकता है।

औद्योगिक अधिकरण में एक या एक से अधिक सदस्य हो सकते हैं जिनकी नियुक्ति, यथास्थिति, केंद्र सरकार अथवा समुचित सरकार द्वारा की जाती है। जहां इस तरह के अधिकरण में दो या दो से अधिक सदस्य हों वहां उनमें से एक को अधिकरण का अध्यक्ष नियुक्त किया जाएगा। अधिकरण एक-सदस्यीय भी हो सकता है। अधिकरण का अध्यक्ष न्यायिक अर्हताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए अर्थात वह

1. उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रह चुका है, या
2. जिला न्यायाधीश है या रह चुका है, या
3. उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए अर्हताप्राप्त है।

अध्यक्ष से भिन्न सदस्यों के पास विहित अर्हताएं होनी चाहिए। यदि किसी बैंकिंग अथवा बीमा कंपनी को प्रभावित करने वाला कोई विवाद अधिकरण को सौंपा गया है तो, केंद्र सरकार अथवा समुचित सरकार के मतानुसार, एक सदस्य को यथास्थिति बैंकिंग अथवा बीमा की विशेष जानकारी होनी चाहिए।

अधिकरण की अधिकारिता का विस्तार किसी भी औद्योगिक विवाद पर हो सकता है। जैसे कि नियोजकों और कर्मचारियों के बीच अदायगी की अवधि और विधि सहित मजदूरी से संबंधित विवाद, प्रतिकर तथा अन्य भत्ते, काम के घंटे, विश्राम के घंटे, मजदूरी सहित प्रसूति छुट्टी, अवकाश के दिन, बोनस, लाभ-सहभाजन, भविष्य निधि, उपदान, स्थायी आदेश से भिन्न किसी अन्य रूप में पारी में काम, ग्रेडों का वर्गीकरण, अनुशासन के नियम, सुव्यवस्थीकरण, कर्मकारों की छंटनी, स्थापनों को बंद करना और कोई अन्य विषय जो विहित किया जाए।

कर्मकारों के सभी पारस्परिक विवाद, नियोजन, विनियोजन या नियोजन की शर्तों या किसी व्यक्ति की मजदूरी की शर्तों से संबंधित विवाद अधिकरण को सौंपे जाते हैं।

औद्योगिक अधिकरण द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया अधिनियम और उसके अधीन बने नियमों में विहित की गई है। अधिकरण को न्यायिक ढंग से काम करना पड़ता है क्योंकि यह एक अर्ध-न्यायिक प्राधिकरण है। इसका कुछ रंग-ढंग न्यायालय जैसा है। इसे विधि को लागू करने के साथ साथ न्याय के सिद्धांतों, साम्या तथा शुद्ध अंतःकरण

का भी अनुकरण करना पड़ता है। अधिकरण को सिविल न्यायालय की शक्तियां दी गई हैं और वह किसी व्यक्ति को अपने समक्ष हाजिर करा सकता है, शपथ पर उसकी परीक्षा कर सकता है, दस्तावेज पेश करने के लिए विवश कर सकता है, साक्षियों की परीक्षा के लिए कमीशन जारी कर सकता है और ये जांच तथा अन्वेषण भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 193 और 228 के अर्थ में न्यायिक कार्रवाइयां मानी जाती हैं। अधिकरण का प्रत्येक सदस्य दंड संहिता की धारा 21 के अर्थ में लोक सेवक माना जाता है।

अधिकरण के अधिनिर्णय सरकार के राजपत्र में प्रकाशित किए जाते हैं। विधिवत प्रकाशन के बाद अधिनिर्णय अंतिम होता है। इस पर अधिकरण के सभी सदस्यों को हस्ताक्षर करने होते हैं। यदि इस पर सभी समस्त हस्ताक्षर न करें तो अधिनिर्णय अवैध तथा अप्रवर्तनीय हो जाता है।

औद्योगिक अधिकरण द्वारा संचालित कार्रवाइयां न्यायिक कार्रवाइयां हैं और इसके निर्णय तथा अधिनिर्णय संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता के अधीन होते हैं। अधिकरण संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय की अधीक्षण अधिकारिता के अधीन होता है। अधिकरण के अधिनिर्णय को भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है क्योंकि उस अनुच्छेद में उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह अपने विवेकानुसार विशेष इजाजत देकर किसी भी न्यायालय या अधिकरण के आदेशों के विरुद्ध अपील ग्रहण कर सकता है।

रेल रेट अधिकरण

भारतीय रेल रेट अधिकरण की स्थापना भारतीय रेल अधिनियम 1989 के अधीन की गई थी। इसमें एक अध्यक्ष होता है जो उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होता है अथवा रह चुका होता है और दो सदस्य होते हैं जिनमें से एक को, केंद्र सरकार की राय में "देश की वाणिज्यिक, औद्योगिक अथवा आर्थिक दशाओं की विशेष जानकारी होती है" और दूसरे सदस्य को, केंद्र सरकार की राय में "रेलों के वाणिज्यिक कार्यचालन की विशेष जानकारी और अनुभव होता है।" इन व्यक्तियों की नियुक्ति केंद्र सरकार द्वारा की जाती है और ये अपने नियुक्ति आदेश में उल्लिखित अवधि के लिए पद धारण करते हैं, पर यह अवधि पांच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती।

अधिकरण को रेल प्रशासन के विरुद्ध विभेदकारी या अयुक्तियुक्त रेट लगाने, या कोई अन्य अयुक्तियुक्त प्रभार लगाने या किसी व्यक्ति विशेष को अयुक्तियुक्त अधिमान देने से संबंधित परिवादों की सुनवाई करने की शक्ति प्राप्त है। यह केंद्र सरकार द्वारा किसी वस्तु के वर्गीकरण, यात्रियों के लिए किरायों के नियतन और सामान, पार्सलों, भारी सामग्रियों और सैनिक यातायात तथा एकमुश्त दरों के नियतन के विषय में प्रेषित निर्देशों पर भी सुनवाई कर सकता है। अधिकरण असेसरों की सहायता से काम करता है जिनका चयन केंद्र सरकार द्वारा तैयार की गई सूची में से किया जाता है। इस सूची में व्यापार, उद्योग और कृषि के प्रतिनिधि और ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें रेलों का कार्यसाधक ज्ञान होता है। इनका चयन उन लोगों के परामर्श से किया जाता है जिनके अधिकरण के निर्णयों से प्रभावित होने की संभावना है।

अधिकरण के समक्ष पक्षकार को स्वयं या किसी प्राधिकृत प्रतिनिधि के माध्यम से, जो अधिवक्ता भी हो सकता है, पेश होने का हक है। अधिकरण का निर्णय बहुमत से किया जाता है और वह अंतिम होता है; इसे किसी सिविल न्यायालय द्वारा एक डिक्री के रूप में निष्पादित किया जा सकता है। रेल प्रशासन द्वारा अधिकरण के किसी आदेश के एक वर्ष बाद आवेदन-पत्र प्रस्तुत करने पर अधिकरण अपने आदेश का पुनर्विलोकन कर सकता है, पर यह तभी किया जाएगा जब अधिकरण का यह समाधान हो जाए, "उसके निर्णय की तारीख के बाद से, परिस्थितियों में सारवान परिवर्तन हो गया है।"

अधिकरण को जिन मामलों पर विचार करने और उनका निर्णय करने की शक्ति है, उन पर कोई वाद नहीं लाया जा सकता और न कोई कार्रवाई चलाई जा सकती है।

अधिकरण की अध्यक्षता उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय का न्यायाधीश करता है अतः उसकी स्वतंत्रता और निष्पक्षता असंदिग्ध होती है। यह सबसे मूल्यवान

रक्षोपाय है क्योंकि अधिकरण को व्यक्ति और प्रशासन के बीच विवादों का विनिश्चय करना होता है।

अधिकरण के आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप अधिकरण

आतंकवादी क्रियाकलाप में अत्यधिक वृद्धि होने और सामान्य न्यायालयों की उन पर कार्रवाई करने की असामर्थ्य के कारण, केंद्र सरकार ने आतंकवादी तथा विध्वंसक क्रियाकलाप और उनसे संबद्ध मामलों से निपटने के लिए एक अधिनियम पारित किया है जिसमें तत्संबंधी विशेष उपबंध किए गए हैं। इस अधिनियम में उन लोगों से, जिन पर उक्त क्रियाकलाप में लगे होने का संदेह है, निपटने के लिए विशेष अधिकरणों (अभिहित न्यायालयों) की स्थापना करने की व्यवस्था है। अधिनियम में दंड के अतिरिक्त ऐसे लोगों की संपत्ति जब्त किए जाने का भी उपबंध है।

केंद्र सरकार द्वारा इस अधिनियम की धारा 9 के अधीन गठित अभिहित न्यायालयों को ही इस विशेष प्रकार के अर्थात अधिनियम की धारा 3 में उल्लिखित अपराधों पर विचारण करने की अधिकारिता है।

केंद्र या राज्य सरकार (सरकारी राजपत्र में अधिसूचना जारी करके) ऐसे क्षेत्र या क्षेत्रों या मामलों के वर्ग अथवा समूह के लिए जो उक्त अधिसूचना में विनिर्दिष्ट हों, एक अथवा एकाधिक अभिहित न्यायालय गठित कर सकती है। अभिहित न्यायालय की अध्यक्षता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से केंद्र सरकार या राज्य सरकार द्वारा नियुक्त न्यायाधीश करता है। केंद्र या राज्य सरकार अभिहित न्यायालय के लिए एक अथवा अधिक अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकती है।

इन अभिहित न्यायालयों को इस अधिनियम के अधीन किए गए अपराधों का विचारण करने की अनन्य अधिकारिता प्रदान की गई है। ऐसे आतंकवादी कार्यकलाप पर विचारण करने की शक्ति [इस अधिनियम की धारा 11 और धारा 11 (3)(क) के अधीन] अन्य किसी न्यायालय को प्राप्त नहीं है।

प्रत्येक अभिहित न्यायालय के लिए केंद्र अथवा राज्य सरकार किसी व्यक्ति को लोक अभियोजक नियुक्त करती है जिसके अंतर्गत अतिरिक्त लोक अभियोजक अथवा विशेष लोक अभियोजक हैं।

अभिहित न्यायालय ऐसे तथ्यों की शिकायत मिलने पर जिनमें उक्त प्रकार के अपराध गठित होते हों या ऐसे तथ्यों के बारे में पुलिस की रिपोर्ट मिलने पर, ऐसे किसी अपराध का संज्ञान कर सकता है, चाहे अभियुक्त को विचारण के लिए उसे सुपुर्द न किया गया हो। इस न्यायालय में चलने वाली सारी कार्रवाई बंद कमरे में होती है। यदि लोक अभियोजक आवेदन करे तो कोई कार्रवाई पूर्णतः अथवा अंशतः खुले न्यायालय में की जा सकती है। अभिहित न्यायालय में चलने वाले किसी अपराध के विचारण को किसी

अन्य न्यायालय में, जो अभिहित न्यायालय नहीं है, चल रहे किसी अन्य मामले के विचारण पर पूर्वता प्राप्त होती है; इन मामलों के विचारण को अन्य मामलों के विचारण की अपेक्षा अधिमान दिया जाता है और जब तक ये चलते हैं, अन्य मामलों का विचारण प्रास्थगित रहता है।

अभिहित न्यायालय के किसी निर्णय, दंड अथवा आदेश के विरुद्ध अपील उक्त न्यायालय के साधिकार दिए गए अंतर्वर्ती आदेश को छोड़कर, तथ्य तथा विधि दोनों के प्रश्नों पर, उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। अपील आदेश के 30 दिन के भीतर दायर की जानी चाहिए। अंतर्वर्ती आदेशों के मामले में, अभियुक्त संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में जा सकता है।

मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण

मोटर दुर्घटनाओं से होने वाली मृत्यु अथवा क्षति के लिए प्रतिकर/दावे पहले सिविल न्यायालयों में वाद संस्थित करके ही प्राप्त किए जा सकते थे। ये लंबे समय तक खिंचते थे, खर्चीले होते और इनकी प्रक्रिया दुर्वह भी होती थी। प्रतिकर के दावों में लंबा समय लगने के कारण दावेदारों को बड़ी असुविधा होती थी। इसके अलावा, दुर्घटना के शिकार अथवा आहत पक्ष को न्यायालय शुल्क भी देना होता था। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति अथवा उसके वारिसों को न्यायालय फीस या मुकदमा लड़ने के खर्च की व्यवस्था करने में बड़ी कठिनाई होती थी। इस अन्याय से बचने के लिए, मोटर दावा अधिनियम की धारा 165 द्वारा मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण की स्थापना का उपबंध किया गया जिसने सिविल न्यायालयों की धीमी प्रक्रिया का स्थान ले लिया। इसमें दावा अधिकरण द्वारा त्वरित और संक्षिप्त प्रक्रिया अपनाए जाने का उपबंध है। अधिकरण की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उसे सिविल न्यायालयों के प्रक्रियात्मक बंधनों से मुक्त करना और अधिकरण की सम्मति में न्यायोचित प्रतिकर को एक निश्चित अवधि के भीतर तथा कम खर्च पर दिलाना है।

अधिनियम के अधीन एक से अधिक दावा अधिकरण स्थापित किए जा सकते हैं और उनकी अधिकारिता को अधिकरणों के गठन की अधिसूचना में विनिर्दिष्ट कर दिया जाता है। यदि किसी राज्य के एक ही क्षेत्र के लिए दो या दो से अधिक अधिकरणों का गठन किया जाता है, जैसा कि महानगरों के संबंध में हो सकता है तो राज्य सरकार उनके बीच मामलों के बंटवारे का नियमन करती है।

दावा अधिकरण में सदस्य एक होगा या कितने होंगे, यह इस पर निर्भर है कि राज्य सरकार क्या वांछनीय समझती है। अधिकरण का एक सदस्य उसका अध्यक्ष होता है। अध्यक्ष आमतौर पर सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय का न्यायाधीश या जिला न्यायाधीश अथवा ऐसा व्यक्ति होता है जो उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए अर्हताप्राप्त है। दावा अधिकरण उच्च न्यायालय का अधीनस्थ न्यायालय होता है ओर उच्च न्यायालय मामलों को राज्य के एक अधिकरण से दूसरे अधिकरण को स्थानांतरित कर सकता है। दावा अधिकरण के अधिनिर्णयों के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय को की जा सकती है और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन अधिकरण के आदेश का पुनरीक्षण केवल उच्च न्यायालय कर सकता है।

दावा अधिकरण की अधिकारिता केवल उन दावों तक सीमित है जो अधिनियम में यथापारिभाषित मोटर यान के उपयोग से उत्पन्न हुए हों और दावे का आधार मोटर यान के उपयोग से उत्पन्न दुर्घटना होगा। यान यंत्रचालित होना चाहिए और दुर्घटना उसके उपयोग या दुरुपयोग से उत्पन्न होनी चाहिए।

दावा अधिकरण निम्न प्रकार के दावों को विचारार्थ स्वीकार कर सकता है और करता है :

1. ऐसी स्थिति में प्रतिकर के सदस्य के दावे जबकि चालक या यान के मालिक ने उपेक्षा न की हो और वह दोषी न हो। इसे सामान्यतया अधिनियम की धारा 140 में दोषरहित दावा कहा जाता है;
2. टक्कर मारकर भाग जाने वाली दुर्घटनाओं के शिकार व्यक्तियों के क्षतिपूर्ति के दावे जिनमें यान के चालक/स्वामी या बीमाकर्ता का पता नहीं लग रहा है (धारा 161);
3. अपकृत्यों या यान के चालक या स्वामी की उपेक्षा के कारण हुई घातक दुर्घटना से उत्पन्न क्षतिपूर्ति के दावे;
4. किसी तृतीय पक्षकार द्वारा मोटर यान के उपयोग से उत्पन्न संपत्तियों के नुकसान से उत्पन्न दावे।

मोटर दुर्घटना में क्षतिग्रस्त संपत्ति के स्वामी को अप्रतिबंध हर्जाने का दावा करने का हक है; यही बात दुर्घटना में आहत व्यक्ति के संबंध में भी है। संपत्ति के नुकसान के लिए दावा स्वतंत्र रूप से दायर किया जा सकता है भले चाहे कोई शारीरिक क्षति न हुई हो।

दुर्घटनाओं से उत्पन्न प्रतिकर के लिए आवेदन आहत व्यक्ति या संपत्ति का स्वामी या यदि दुर्घटना के फलस्वरूप किसी की मृत्यु हो गई है तो उसके किसी वैध वारिस या मृतक के किसी या सभी वैध वारिसों द्वारा विधिवत प्राधिकृत अभिकर्ता प्रस्तुत कर सकता है। दावा अधिकरण के समक्ष पुलिस अधिकारी द्वारा फाइल की गई रिपोर्ट को भी दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की ओर से किया गया दावा माना जा सकता है।

मोटर दावा अधिकरण के समक्ष दावे का आवेदन दुर्घटना होने के छह मास के भीतर प्रस्तुत कर दिया जाना चाहिए।

दावे को अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए नियमों में विहित आवेदन के प्रारूप में प्रस्तुत करना चाहिए। दावा अधिकरण बीमाकर्ता और अन्य आवश्यक पक्षों को नोटिस जारी करके और दावे की जांच करके तथा संबंधित पक्षवारों को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के उपरांत प्रतिकर की जो राशि न्यायसम्मत और उपयुक्त समझेगा, उसका अवधारण करते हुए अधिनिर्णय देगा जिसमें यह भी विनिर्दिष्ट किया जाएगा कि प्रतिकर की राशि कौन व्यक्ति देगा। वह यह भी निदेश दे सकता है कि अधिनिर्णय की तारीख के 30 दिन के भीतर प्रतिकर की राशि न्यायालय में जमा कर दी जाए जहां से वह संबंधित व्यक्तियों को दे दी जाएगी। अधिनियम में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंध है कि दावे की जांच करते समय अधिकरण जैसी संक्षिप्त प्रक्रिया अपनाना उचित समझे, अपना सकता है और उसे शपथ पर साक्ष्य लेने, साथियों को उपस्थित कराने और उस प्रयोजनार्थ दस्तावेजों के

प्रकटीकरण पेश करने के लिए विवश करने की सिविल न्यायालय की शक्तियां हैं।

अपीलें

अधिकरण के अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील अधिनिर्णय की तारीख के 10 दिन के भीतर उच्च न्यायालय में की जा सकती है। किंतु अधिनियम में यह उपबंध है कि जब तक अपीलकर्ता अधिकरण में 25,000 रु. अथवा अधिनिर्णीत राशि का 50 प्रतिशत, जो भी कम हो, जमा न करा दे तब तक उसकी अपील विचारार्थ स्वीकार नहीं की जाएगी। यदि अधिनिर्णीत राशि 10,000 रु. से कम है तो कोई अपील नहीं की जा सकती। यदि दावा नामंजूर हो जाए तो दुर्घटना का शिकार व्यक्ति/दावेदार भी अपील कर सकता है। इसी प्रकार यदि वे अधिनिर्णीत राशि से असंतुष्ट हों तो भी अपील कर सकते हैं। वे प्रति अपील भी कर सकते हैं जिसकी सुनवाई अपील के साथ ही की जाती है। अधिकरण के अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत याचिका के रूप में सीधे उच्चतम न्यायालय में भी की जा सकती है।

अन्य अधिकरणों की तरह, यदि किसी क्षेत्र में दावा अधिकरण का गठन कर दिया जाए तो प्रतिकर के जिन दावों का न्यायनिर्णयन उस क्षेत्र के दावा अधिकरण द्वारा किया जा सकता है, उससे संबंधित किसी प्रश्न को विचारार्थ स्वीकार करने की सिविल न्यायालय की अधिकारिता समाप्त हो जाती है।

मोटर यान अधिनियम के अधीन गठित दावा अधिकरण तथा कर्मकार प्रतिकर अधिनियम के अधीन गठित अधिकरण दो स्वतंत्र अधिकरण हैं, पर कुछ मामलों में प्रतिकर के दावों के विषय में उनकी अधिकारिता समवर्ती है। ऐसे मामले में, यह दावेदार की इच्छा पर है कि वह इन दोनों में से किस अधिकरण को अपना दावा करने के लिए चुने। यद्यपि कर्मकार प्रतिकर अधिनियम की धारा 19 सिविल न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करती है पर वह मोटर यान अधिनियम के अधीन गठित अधिकरण का अपवर्जन नहीं करती।

मोटर दुर्घटना से उत्पन्न दावे के विषय में दावेदार यह तय कर सकता है कि वह कर्मकार प्रतिकर अधिनियम के अधीन राहत की मांग करे या मोटर यान अधिनियम के अधीन गठिन अधिकरण में दावा पेश करे।

कर्मकार प्रतिकर अधिनियम

भारत में उद्योग की त्वरित संवृद्धि के साथ नई और जटिल मशीनरी भी आई है। इन मशीनों पर काम करने वाले अनेक व्यक्ति निर्धन और अनपढ़ होते हैं इसलिए दुर्घटनाओं का खतरा रहता ही है। यह मानते हुए कि दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप पैदा होने वाले कष्ट से कर्मकारों को यथासंभव संरक्षण प्रदान किया जाए और दावेदारों को सामान्य सिविल न्यायालयों की शरण लेने और वहां के विलंब और भारी खर्च उठाए बिना यथाशीघ्र प्रतिकर उपलब्ध कराया जाए, कर्मकार प्रतिकर अधिनियम 1923 बनाया गया। दुर्घटनाओं की संख्या में कमी लाने, उचित चिकित्सा की व्यवस्था करने, दुर्घटना के दुष्प्रभाव को कम करने और सिविल न्यायालयों की तुलना में, प्रतिकर के दावों के कम खर्च में तथा त्वरित निपटारे के लिए, विशेष अधिकरण गठित करने के लिए इस तरह की विधि बनाने की आवश्यकता अनुभव की गई।

इस प्रकार, कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 प्रतिकर से संबंधित विवादों के त्वरित निपटारे के लिए एक तंत्र उपलब्ध कराता है। प्रतिकर देने के व्यक्ति के दायित्व से संबंधित प्रश्नों (जिसके अंतर्गत यह भी है कि क्षतिग्रस्त व्यक्ति कर्मकार है अथवा नहीं) अथवा प्रतिकर की राशि और उसकी कालावधि (अपंगता की प्रकृति और विस्तार सहित) का निर्णय एक आयोग द्वारा किया जाता है, जिसके आयुक्त की नियुक्ति उक्त अधिनियम के अधीन की जाती है। इस प्रकार जो मामले इस आयुक्त द्वारा निपटाए जाने हैं, उनके संबंध में कोई कार्रवाई करने या उनका निपटारा करने की सिविल न्यायालयों की शक्ति उनसे ले ली गई है। आयुक्तों की नियुक्ति किसी विशेष क्षेत्र अथवा क्षेत्रों के लिए राज्य सरकार द्वारा राजपत्र में अधिसूचना प्रकाशित करके की जाती है। एक क्षेत्र में एक से अधिक आयुक्त की नियुक्ति की जा सकती है; ऐसे मामलों में आयुक्तों के बीच काम का विनियमन अधिसूचना द्वारा किया जाता है। अधिनियम में यह उपबंध भी है कि आयुक्त अधिनियम के अधीन उसे सौंपे गए किसी मामले का निर्णय करने के लिए जांच के अधीन विवाद से जुड़े किसी मामले की विशेष जानकारी रखने वाले एक या एक से अधिक व्यक्ति को जांच में अपनी सहायता करने के लिए चुन सकता है। संबंधित पक्षवार दावे का निपटारा आपस में भी कर सकते हैं और उसे अभिलिखित करा सकते हैं। दावों के लिए या दावों के निपटारे को अभिलिखित कराने के लिए या अधिनियम के अधीन किसी अन्य मामले को आयुक्त के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए, नियमों के अधीन विहित प्रपत्र में आवेदन करना जरूरी है।

आयुक्त के लिए आवश्यक है कि वह प्रत्येक साक्षी की साक्ष्य का सार देते हुए एक

संक्षिप्त ज्ञापन तैयार करे और उसके आधार पर देय कुल राशि का अवधारण करते हुए अपना अधिनिर्णय दे। उसके बाद वह संबंधित नियोजक को विहित राशि जमा करने का आदेश देता है। आयुक्त उचित समझे तो अंतरिम आदेश भी दे सकता है। आयुक्त के निम्नलिखित आदेशों के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती है :

1. अर्धमासिक संदाय के स्थान पर एकमुश्त प्रतिकर का आदेश या किसी दावे को पूर्णतः अथवा अंशतः नामंजूर करके एकमुश्त राशि का आदेश;
2. ब्याज अथवा जुर्माना अधिनिर्णीत करने वाला आदेश;
3. अर्धमासिक संदाय के मोचन की अनुमति को नामंजूर करने का आदेश;
4. दिवंगत कर्मकार के आश्रितों के बीच प्रतिकर के वितरण की व्यवस्था करने वाला आदेश या ऐसा आश्रित होने का दावा करने वाले व्यक्ति के दावे को नामंजूर करने का आदेश;
5. धारा 12 की उप-धारा (2) के उपबंधों के अधीन प्रतिकर की राशि के दावे को मंजूर या नामंजूर करने का आदेश; या
6. समझौते के ज्ञापन को रजिस्टर करने से इंकार करने का आदेश या उसे किन्हीं शर्तों के अधीन रजिस्टर करने या रजिस्ट्री करने की व्यवस्था करने का आदेश।

उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय में एक और अपील की जा सकती है।

3

अन्य न्यायालय

माध्यस्थम्

विवादियों द्वारा किन्हीं ऐसे व्यक्तियों को विवाद सौंपकर उसका निर्णय कराना जिनमें उनका विश्वास हो, माध्यस्थम् कहलाता है। संगठित समाज में, लोग कानून को अपने हाथ में नहीं ले सकते क्योंकि सक्षम न्यायालयों द्वारा मामलों का निर्णय कराने के लिए राज्य एक न्यायिक प्रणाली उपलब्ध कराता है जिसमें न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य करता है और वादी अपने विवाद उनके समक्ष निर्णयार्थ प्रस्तुत करते हैं। माध्यस्थम् न्यायिक तंत्र से अलग एक व्यवस्था है जिसे विवादों के निपटारे की एक वैकल्पिक पद्धति कहा जा सकता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विवादी पक्ष न्याय पाने के लिए न्यायालय की शरण में जाने के बजाए विनिर्दिष्ट मामलों में विशेष व्यक्तियों द्वारा दिए जाने वाले निर्णय को मानने के लिए लिखित रूप से सहमत होते हैं।

माध्यस्थम् के कई लाभ हैं : यह कमखर्च है, मामलों का निपटारा शीघ्रतापूर्वक किया जा सकता है और इसमें प्रक्रियात्मक बारीकियां भी नहीं होतीं। मध्यस्थ का अर्थ है, ऐसा व्यक्ति जिसे विवादों के निपटारे के लिए चुना गया हो। माध्यस्थम् यद्यपि पूर्णतया न्यायिक नहीं होता किंतु विकसित रूप से, यह विधि द्वारा विनियमित होता है और मध्यस्थ मनमाने ढंग से, चंचल चित्त से अथवा कदाचारपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते।

प्राचीन भारत मे, माध्यस्थम् की कई श्रेणियां थीं, उदाहरण के लिए पुग अर्थात व्यक्तियों का एक मंडल जिसके सदस्य अलग अलग संप्रदायों और जनजातियों के लोग होते हुए भी एक ही बस्ती के निवासी होते थे, श्रेणी अर्थात व्यापारियों और दस्तकारों की सभाएं जो अलग अलग जनजातियों से संबंधित होने पर भी किसी रूप में एक-दूसरे से जुड़ी होती थीं, कुल अथवा पारिवारिक बंधनों से बंधे व्यक्तियों का समूह। आरंभिक काल से ही, पंचायतों के निर्णयों को बाध्यकारी मानकर स्वीकार किया जाता रहा है। कोलब्रुक (एक अंग्रेज विद्वान और प्राचीन हिंदू विधि का टीकाकार) के अनुसार, पंचायतें नियमित न्यायालयों

के अधीन माध्यस्थम् की भिन्न प्रणालियां थीं। कुल या संबंधियों के समूह के निर्णय को श्रेणी बदल सकती थी और श्रेणी के निर्णय को पुग बदल सकता था। पुग के निर्णय के विरुद्ध प्राड्विवाक से अपील की जा सकती थी और अंतिम अपील सम्राट या राजा से होती थी।

माध्यस्थम् के उद्देश्य हैं—शीघ्रता, मितव्ययिता, सुविधा, प्रक्रिया की सरलता, गोपनीयता, और विवादी पक्षों के बीच स्वस्थ एवं मैत्रीपूर्ण संबंधों को प्रोत्साहन। राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक व्यवहारों में माध्यस्थम् का प्रयोग अधिकाधिक किया जा रहा है। मध्यस्थ संबंधित पक्षों के बीच न्यायाधीशों की-सी भूमिका निभाते हैं।

शताब्दियों से, वाणिज्य में लगे लोगों ने अपने व्यावसायिक विवादों को सुलझाने के लिए न्यायालयों की अपेक्षा माध्यस्थम् को चुना है। अनेक मामलों में, मध्यस्थ साधारण व्यक्ति होते हैं जो विधि में कोई प्रशिक्षित नहीं होते, पर वे निष्पक्ष व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं और उन्हें आमतौर पर संबंधित व्यवसाय की जटिलताओं और प्रथाओं की सूक्ष्म जानकारी होती है।

न्यायालय द्वारा प्रदत्त न्याय के विपरीत, जिसके विरुद्ध एक के बाद एक अपीलें की जा सकती हैं, माध्यस्थम् को प्रायः 'अंतिमता से युक्त सारवान न्याय' बताया गया है। ऐसे मामलों में जिनमें तथ्यों के प्रश्नों पर विवाद है, जैसे कि माल मूल नमूनों के अनुरूप है या नहीं, नुकसानी का निर्धारण कैसे किया जाए, या प्रतिकर की राशि उचित है या नहीं, माध्यस्थम् की शरण लेना लाभकारी रहता है। किंतु जटिल मामलों में जहां विधि की सूक्ष्म बातों के उठने की संभावना हो वहां कानूनी कार्रवाई श्रेयस्कर मार्ग होती है। न्यायालयों की तरह, माध्यस्थम् के भी दोनों रूप हैं। उदाहरणार्थ, कभी कभी यह वादकारी से भी अधिक खर्चीला साबित होता है। ऐसा माध्यस्थम् में अंतर्निहित किन्हीं दोषों के कारण नहीं होता बल्कि इसलिए होता है कि तंत्र का संचालन मनुष्य के हाथों होता है और उस पर बलप्रयोग नहीं हो सकता। ऐसे भी अवसर आते हैं जब ईमानदार व्यक्ति वाद की तुलना में माध्यस्थम् से अधिक भय खाते हैं।

भारत में, मध्यस्थ की नियुक्ति की प्रक्रिया और माध्यस्थम् की कार्रवाई माध्यस्थम् अधिनियम 1940 में निहित की गई है और इसके फैसले की, जिसे पंचाट कहा जाता है, न्यायालय में अपील की जा सकती है। अधिनियम की योजना त्वरित तथा सारवान न्याय की घरेलू व्यवस्था उपलब्ध कराना है जो विविध बारीकियों से बाधित न हो।

आपराधिक प्रकृति के मामलों को छोड़कर लगभग सभी विवाद माध्यस्थम् के लिए सौंपे जा सकते हैं। अतः कुछ अपवादों को छोड़कर सिविल प्रकृति के सभी मामले, वे वर्तमान विवादों से संबंधित हों या भावी विवादों से, माध्यस्थम् के विषय हो सकते हैं, किंतु ऐसा कोई विवाद माध्यस्थम् के लिए नहीं सौंपा जा सकता जो किसी अवैध व्यवहार पर

आधारित हो अथवा उससे उत्पन्न हुआ हो। जहां विधि ने किसी मामले के अवधारण की अधिकारिता केवल किन्हीं निर्दिष्ट अधिकरणों को प्रदान की हो और उन मामलों का अन्य अधिकरणों द्वारा अवधारण अपवर्जित हो वहां ऐसा मामला माध्यस्थम् के लिए नहीं सौंपा जा सकता। दिवाले की कार्रवाई जिसमें इस बात का निर्णय करना सम्मिलित है कि किसी व्यक्ति विशेष को दिवालिया घोषित किया जाए या नहीं, या अभिधृति, किराया अधिनियम आदि से संबंधित मामले भी माध्यस्थम् के लिए नहीं सौंपे जा सकते।

विधि में यह उपबंध है कि माध्यस्थम् के लिए मामला सौंपने का समझौता लिखित में होना चाहिए। माध्यस्थम् के लिए मामला सौंपने का समझौता मौखिक नहीं हो सकता। संबंधित पक्षकार एक मध्यस्थ नियुक्त कर सकते हैं या प्रत्येक पक्ष एक एक मध्यस्थ नियुक्त कर सकता है। यदि एक से अधिक मध्यस्थ हैं तो विवादी पक्षों को एक अधिनिर्णायक की नियुक्ति करनी होती है जिसे मध्यस्थों में असहमति होने की स्थिति में मामला प्रेषित किया जाता है। मध्यस्थों के लिए आवश्यक है कि संबंधित पक्षकारों की व्यक्तिगत रूप से या यदि पक्षकारों की इच्छा हो तो, उनके अधिवक्ताओं के माध्यम से सुनवाई करे। नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का, जिनमें 'दूसरे पक्ष की भी सुनो', 'अपना निर्णायक कोई स्वयं नहीं हो सकता' के सिद्धांत भी सम्मिलित हैं, पालन किया जाना चाहिए। पक्षकार साक्ष्य प्रस्तुत करने में पहल कर सकते हैं और दस्तावेज दाखिल कर सकते हैं। मध्यस्थों को अपना अधिनिर्णय चार मास के भीतर दे देना चाहिए। लेकिन विवादी पक्ष परस्पर सहमति से इस अवधि को बढ़ा सकते हैं और यदि कोई एक पक्ष इसके लिए सहमत न हो तो पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात उपयुक्त मामलों में न्यायालय को अवधि बढ़ाने की शक्ति है। अधिनिर्णायक को भी चार मास के भीतर अपना अधिनिर्णय देना होता है।

अधिनियम में यह भी उपबंध है कि यदि कोई मामला न्यायालय के समक्ष लंबित हो और यह अनुभव हो कि विवादाधीन प्रश्न बड़े तकनीकी किस्म के हैं जिन्हें सुलझाने के लिए विशेष जानकारी की आवश्यकता है और संबंधित पक्षकार सहमत हों तो न्यायालय मामले को माध्यस्थम् के लिए सौंप सकता है। इसे न्यायालय द्वारा प्रेषित निर्देश कहा जाता है। उसकी भी वही प्रक्रिया है जो निजी सहमति से माध्यस्थम् की है; बस एक अंतर है कि इसमें मध्यस्थ न्यायालय के प्रति उत्तरदायी होते हैं और अधिनिर्णय न्यायालय को प्रेषित किया जाता है तथा मामला तब तक अनिर्णीत रहता है जब तक मध्यस्थ न्यायालय में अधिनिर्णय फाइल नहीं कर देते।

विवादी पक्ष यह भी कर सकते हैं कि मध्यस्थ विस्तृत प्रक्रियात्मक विधि को छोड़ सकते हैं और विलंब तथा विस्तृत प्रलेखीकरण से बचने के लिए और खर्च बचाने के लिए संक्षिप्त प्रक्रिया अपना सकते हैं।

मध्यस्थ द्वारा दिया गया निर्णय अधिनिर्णय कहलाता है। यह विहित स्टांप पेपर पर

लिखित रूप में दिया जाता है और न्यायालय में फाइल किया जाता है। यदि विवादी पक्ष अधिनिर्णय को स्वीकार कर लेते हैं तो यह न्यायालय का आदेश बन जाता है और विवाद की समाप्ति हो जाती है। अब यह तय हो गया है कि जब तक विवादी पक्ष परस्पर सहमति से यह आग्रह न करें कि मध्यस्थ अपने फैसले के कारणों का उल्लेख भी करेंगे तब तक अधिनिर्णय कोई कारण अभिलिखित किए बिना ही दिया जा सकता है। जिन मामलों में अधिनिर्णय तक पहुंचने के पीछे जो कारण थे, उनको अभिलिखित नहीं किया गया है, उनमें न्यायालय यह अटकल नहीं लगाते कि मध्यस्थ की चिंतन प्रक्रिया क्या थी या वे कौन से कारण थे जिनको उन्होंने महत्व दिया।

मध्यस्थों के अधिनिर्णय को सीमित आधारों पर चुनौती दी जा सकती है। ये हैं :

1. मध्यस्थ या अधिनिर्णायक ने कार्रवाई में कदाचरण किया है;
2. अधिनिर्णय न्यायालय द्वारा माध्यस्ः मृ के अधिक्रमण का आदेश जारी करने के बाद दिया गया है या माध्यस्थम् की कार्रवाई धारा 35 के अधीन अमान्य हो चुकी है;
3. अधिनिर्णय अनुचित रूप से कराया गया है या वह किसी अन्य कारण से अमान्य है।

न्यायालय विवादी पक्षों को सुनने के बाद अधिनिर्णय को अभिपुष्ट कर सकता है, बदल सकता है या अपास्त कर सकता है, उसके आगे कोई भी पक्ष उच्चतम न्यायालय तक अपीलें कर सकता है।

मध्यस्थों की फीस और अन्य खर्चे विवादी पक्षों द्वारा वहन किए जाते हैं। अपने अधिनिर्णय में मध्यस्थ किसी एक पक्षकार या पक्षकारों द्वारा खर्च के संदाय के बारे में भी निदेश दे सकते हैं।

लोक अदालतें

न्यायालयों के माध्यम से विधिक राहत पाने की प्रक्रिया लंबी और अत्यंत जटिल है और इसमें खर्च भी बहुत लगता है। इसी कारण विवादों को त्वरित तथा कम खर्च में निपटाने के कई भिन्न भिन्न और नए तरीके निकल आए हैं। ऐसा ही एक तरीका लोक अदालत है।

विवादों को शीघ्रतापूर्वक और कम खर्च में स्वैच्छिक रूप से निपटाने की विधि को बढ़ावा देने के लिए लोक अदालतें उच्चतम न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों द्वारा शुरू की गई थीं। अब संसद द्वारा पारित विधिक सेवा प्राधिकारी अधिनियम, 1987 के अधीन लोक अदालतों को सांविधिक दर्जा प्राप्त हो गया है। इस सम्मिश्र अधिनियम का सरोकार कानूनी सहायता, लोक अदालतों और कानूनी सहायता सेवाओं से है। इन युगल संस्थाओं का उद्देश्य सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लिए कानूनी प्रणाली के प्रचालन को सुनिश्चित करना है—सामाजिक न्याय का विशेष महत्व समाज के दुर्बल वर्गों के लिए है जो आर्थिक तथा अन्य अयोग्यताओं के कारण, सामान्य न्यायालयी प्रक्रियाओं में होने वाले विलंब और व्यय को सहन नहीं कर सकते।

यदि किसी साधारण व्यक्ति को न्याय पाने के लिए किसी निगम, बीमा कंपनी, बड़ी कंपनी, या सरकारी उपक्रम के साथ संघर्ष करने के लिए विवश होना पड़े तो यह संघर्ष सदैव दो असमान पक्षकारों के बीच होता है। अधिकांश मामलों में, व्यक्ति उपयुक्त कानूनी सेवाओं का खर्च नहीं उठा सकता जबकि निगम अच्छे से अच्छे विधि व्यवसायियों की सेवाएं प्राप्त कर सकता है। कभी कभी न्यायालय के दूसरे खर्च इतने ज्यादा होते हैं कि उन्हें उठाना व्यक्तिगत वादकारी के लिए वहुत कठिन होता है। इसके अतिरिक्त, तकनीकी प्रक्रियाएं जटिल होती जाती हैं, स्थगनों की संख्या बढ़ती जाती है और न्यायालय का खर्च बढ़ता चला जाता है। यही पृष्ठभूमि थी जिसे दृष्टि में रखकर लोक अदालतों की स्थापना का उपबंध करने वाला अधिनियम पारित किया गया। अधिनियम में यह उपबंध है कि राज्य या जिले के प्राधिकारी समय समय पर सुविधाजनक स्थानों पर लोक अदालतों का गठन करेंगे जिन्हें राज्य अथवा जिला प्राधिकारियों द्वारा प्रदत्त अधिकारिता होगी। अधिनियम में यह भी कहा गया है कि लोक अदालतों में उस क्षेत्र के न्यायिक अधिकारी और ऐसे सदस्य होंगे जिनके पास राज्य द्वारा विहित योग्यताएं और अनुभव होगा।

लोक अदालतों की अधिकारिता बड़ी व्यापक है। वे सिविल, दांडिक या राजस्व न्यायालयों अथवा अधिकरणों की अधिकारिता में आने वाले किन्हीं मामलों से संबंधित विवादों से जुड़े उभय पक्षों के बीच समझौते या निपटारे करा सकती हैं। यदि संबंधित पक्ष न्यायालय या अधिकरण में संयुक्त आवेदन प्रस्तुत करके अपना यह आशय व्यक्त करें

कि वे आपस में समझौता या निपटारा करना चाहते हैं तो वह मामला लोक अदालत के समक्ष जा सकता है। तब न्यायालय की अध्यक्षता करने वाला न्यायाधीश अथवा अधिकरण, मामले को आगे बढ़ाने के स्थान पर यह आदेश कर देता है कि कार्रवाई समझौते/निपटारे के लिए लोक अदालत को अंतरित कर दी जाए।

अधिनियम में स्वयं ही इस बात का उपबंध है कि लोक अदालत अपने समक्ष चलने वाली कार्रवाई का अवधारण करेगी और विवादी पक्षों के बीच समझौते/निपटारे के लिए अधिकतम शीघ्रता के साथ काम करेगी और यह कि लोक अदालतें विधि के सिद्धांतों, न्याय के सिद्धांतों, साम्या और ऋजुता से प्रेरित होंगी। यदि लोक अदालत में विवादी पक्षों के बीच कोई समझौता/निपटारा नहीं हो पाता तो मामला फिर उसी न्यायालय को अंतरित कर दिया जाता है जहां से वह मूलतया प्रेषित किया गया था।

लोक अदालत के अधिनिर्णय को विधितः लागू किया जा सकता है क्योंकि इसे सिविल न्यायालय या अधिकरण की डिक्री माना जाता है तथा आगे और खर्च एवं विलंब को बचाने के लिए इसे विवाद के सभी पक्षों के लिए अंतिम तथा बाध्यकारी माना जाता है। लोक अदालत के अधिनिर्णय की किसी न्यायालय में अपील का कोई उपबंध नहीं किया गया है।

सिविल प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत लोक अदालत को विवादों का विचारण करते समय सिविल न्यायालय की शक्तियां प्रदान की गई हैं और लोक अदालत के समक्ष चलने वाली कार्रवाई को भारतीय दंड संहिता के उपबंध के अनुसार न्यायालय की कार्रवाई माना जाता है।

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने समय समय पर लोक अदालतें लगाई हैं और बराबर लगा रही हैं जिनमें इन न्यायालयों में लंबित मामले विवादी पक्षों की सहमति से अंतरित कर दिए जाते हैं। लोक अदालतों ने बड़ी संख्या में मुकदमों का फैसला किया है। इनके निर्णयों को संबंधित न्यायालयों की डिक्री का रूप दिया गया है। इस तरह की लोक अदालतें अब बिजली बोर्डों, टेलीफोन विभाग आदि विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा भी लगाई जा रही हैं।

यदि ठीक से उपयोग किया जाए तो लोक अदालतें उपयोगी संस्थाएं सिद्ध हो सकती हैं। ये न्यायालयों के स्थानापन्न के रूप में कार्य नहीं कर सकतीं, परंतु यदि इनका गठन और संचालन ध्यान से किया जाए तो ये वर्तमान न्यायतंत्र की एक स्वागत-योग्य अतिरिक्त अंग सिद्ध हो सकती हैं। अन्य न्यायालयों और अधिकरणों की तरह, पक्षकारों/वकीलों/प्राधिकारियों/राजनीतिज्ञों द्वारा इन अदालतों का भी दुरुपयोग किया जा सकता है।

पंचायतें

भारत में ग्राम पंचायत की संस्था का इतिहास काफी लंबा है। वैदिक भारत में, स्वायत्त ग्राम, समाज की सामाजिक संरचना की एक विशेषता थे। पंचायतों के कामकाज में शासकों का हस्तक्षेप न्यूनतम था। पंचायत के सदस्य निर्वाचित होते थे और उन्हीं में से सरपंच का निर्वाचन किया जाता था। ऐसे निर्वाचनों के लिए स्थापित प्रक्रिया के अनुसार महिला भी पंचायत का सदस्य चुनी जा सकती थी।

पंचायत द्वारा प्रयुक्त शक्तियां कार्यपालक और न्यायिक दोनों प्रकार की होती थीं। इसके अंतर्गत निम्नलिखित शक्तियां थीं :

1. गांव के लोगों के बीच भूमि का वितरण;
2. भूमि की उपज में से करों का संग्रहण;
3. अपराधों की जांच और अपराधियों को दंड।

किसी गांव से संबंधित मामलों पर निर्णय लेते समय शासकों को यथासंभव ग्राम पंचायत की राय लेनी पड़ती थी।

पंचायतों के कर्तव्य और शक्तियां स्मृतियों और चाणक्य के अर्थशास्त्र तथा शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र जैसे ग्रंथों में विहित की गई थीं। तुर्की और अफगान आक्रमणों के समय तक पंचायतें स्वायत्त रूप से अपना काम करती रहीं।

भारत में ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के समय तक, पंचायतें अपना महत्व और अस्तित्व लगभग खो चुकी थीं। अंग्रेजों ने स्थानीय स्वशासन की स्थापना का पहला प्रयास 1869 में किया जब मुंबई की सरकार ने जिला स्थानीय निधि समिति स्थापित की। यह एक नामित समिति थी।

1882 में लार्ड रिपन ने जिला स्थानीय बोर्डों के गठन के साथ भारत में स्थानीय स्वशासन की स्थापना की। जिला बोर्डों और जिला परिषदों की स्थापना मराठवाड़ा तथा विदर्भ में की गई। स्थानीय स्वशासन अधिनियम 1889 में परित किया गया जिसके अधीन ग्रामीण स्थानीय प्रशासन का निर्धारण सर्किलों के एक समूह द्वारा किया जाता था, जिनमें से प्रत्येक सर्किल कुछ गांवों को मिलाकर बनता था।

इससे अगला महत्वपूर्ण अधिनियम मुंबई ग्राम पंचायत अधिनियम 1920 था। इसके अधीन पंचायत को एक निर्वाचित निकाय के रूप में गठित किया जाता था। पंचायत के सदस्यों का निर्वाचन गांव के व्यस्क पुरुष करते थे और उसे मुख्यतया सिविल प्रकृति के स्थानीय कार्य सौंपे जाते थे। पंचायतों को अनिवार्य गृहकर संग्रहण का हक था। मुंबई ग्राम पंचायत अधिनियम 1920 ने पंचायतों को कुछ सामाजिक-आर्थिक कार्यों सहित विभिन्न कार्यकलाप हाथ में लेने की शक्ति प्रदान की और उन्हें अपनी आय बढ़ाने के लिए कर

और शुल्क उद्ग्रहण करने की शक्ति दी।

यद्यपि पंचायतों को लार्ड रिपन ने 1882 में पुनर्जीवित किया था पर वे सच्चे अर्थों में लोकमानस का प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं और पंचायत को स्थानीय स्वशासन का पर्याय कहना मुश्किल था।

स्वतंत्रता के बाद, विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया जारी रही। बिहार में पंचायत राज अधिनियम 1948 में पास किया गया और राजस्थान में पंचायत अधिनियम 1953 में लागू हुआ। 1956 में राज्यों के पुनर्गठन के बाद, धीरे धीरे विभिन्न राज्यों में पंचायत प्रणाली लागू करने के लिए विधियां पारित की गईं। आंध्र प्रदेश, असम, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मुंबई में यह प्रक्रिया लगभग पूरी हो चुकी थी। मुंबई ग्राम पंचायत अधिनियम 1958 में पास किया गया। इस अधिनियम के अधीन, ग्राम पंचायतों के पर्यवेक्षण और नियंत्रण के लिए हर जिले में एक ग्राम पंचायत मंडल का गठन किया गया। किंतु 1962 में ये मंडल समाप्त कर दिए गए।

विभिन्न राज्यों के इन अधिनियमों के अतिरिक्त, भारत के संविधान के अनुच्छेद 40 में यह निदेश दिया गया है, "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।"

उपर्युक्त नए अधिनियमों के अधीन गठित ग्राम पंचायतें ब्रिटिश काल में विद्यमान ग्राम पंचायतों से बहुत भिन्न थीं।

नए अधिनियमों के अधीन, गांव के वयस्क निवासियों की एक ग्राम सभा गठित की जाती थी और पंचायतों के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रत्येक वित्त वर्ष के आरंभ होने के दो मास के भीतर ग्राम सभा की बैठक बुलाएं और वार्षिक लेखा विवरण तैयार करके बैठक में प्रस्तुत करें।

इस बैठक के समक्ष प्रशासनिक रिपोर्ट, प्रस्तावित विकास कार्यक्रम, लेखापरीक्षा रिपोर्ट, लेखापरीक्षा आपत्तियों का अनुपालन और अन्य ऐसे ही मामले प्रस्तुत करना भी जरूरी था। कुछ राज्यों में, लगान की वसूली का जिम्मा पंचायतों को दे दिया गया। इसी प्रकार, गांव के अभिलेखों को रखने का काम भी पंचायतों के सुपुर्द कर दिया गया। समूह न्याय पंचायतों की स्थापना की गई पर बाद में इन्हें समाप्त कर दिया गया।

पंचायतों के अनिवार्य कर्तव्य मुख्यतया सिविल प्रकृति के थे अर्थात स्वच्छता, सड़कों पर प्रकाश और पेयजल की व्यवस्था करना। स्वविवेक से किए जाने वाले कार्यों में कृषि, सहकारिता, पशुपालन, वन, समाज कल्याण, शिक्षा, चिकित्सा एवं लोक स्वास्थ्य, भवन एवं संचार, सिंचाई, कुटीर-उद्योग, आत्मरक्षा, और अन्य प्रशासनिक तथा विकास कार्य सम्मिलित थे।

ग्राम पंचायत अधिनियम के अधीन एक ग्राम निधि का गठन और स्थापना की गई है। यह वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नियोजनों पर लगाए कर का जो पंचायतों को सौंपे गए संग्रहण, धूल, गोबर, कचरा आदि की बिक्री, राज्य सरकार और जिला परिषद से मिले अंशदानों, राज्य या जिला ग्राम विकास निधियों से प्राप्त कर्जों, दान और अंशदानों, पंचायत की संपत्ति से होने वाली आय और आगमों, उपकर, किराया, जुर्माना, कांजी हाउस शुल्क और ग्राम बीमा योजना से प्राप्त कमीशनों से मिलकर बनती है।

ग्राम पंचायतों का नियंत्रण और पर्यवेक्षण जिला परिषदों, पंचायत समितियों और उनके अधिकारियों द्वारा किया जाता है। राज्य सरकारों का भी ज़िले के कलक्टर के माध्यम से पंचायतों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है। जिला परिषदों के अधीन ग्राम पंचायतों का पर्यवेक्षण और नियंत्रण करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति राज्य सरकारों द्वारा की जाती है।

ऐसा कोई उपयुक्त तंत्र नहीं है जिसके माध्यम से जनता जिला परिषदों के विरुद्ध अपनी शिकायतें कर सके और उनमें व्याप्त अनाचार पर नियंत्रण कर सके। सरकार में विद्यमान निहित स्वार्थ सदा ही तंत्र के अंदर पाए जाने वाले भ्रष्ट तत्वों को आश्रय देते रहे हैं और अब उनके पांव अच्छी तरह जम गए हैं। इन संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण शायद ही कभी कारगर सिद्ध हुआ हो और गांव में रहने वाले निर्धन वर्ग को अभी तक वर्तमान पंचायत राज से लाभ नहीं पहुंचा है।

संविधान (तिहत्तरवां संशोधन) अधिनियम 1992 द्वारा भारत के संविधान में भाग 9 जोड़कर उक्त पंचायतों के बारे में उपबंध किया गया है। इस अधिनियम के मुख्य उपबंध इस प्रकार हैं :

1. हर गांव में एक पंचायत होगी जो एक संवैधानिक निकाय होगी। राज्य निर्वाचन आयोग पंचायतों के लिए निर्वाचन कराएगा।
2. समाज के दुर्बल वर्गों और महिलाओं के लिए पंचायत में स्थानों का आरक्षण अनिवार्य कर दिया गया है।
3. पंचायतों की कालावधि पांच साल की होगी। यदि कोई पंचायत इससे पूर्व विघटित हो जाती है तो छह मास के भीतर दोबारा चुनाव कराने होंगे।
4. राज्य सरकारें अधिनियम बनाकर पंचायतों को ऐसी शक्तियां और प्राधिकार देने का उपबंध कर सकती हैं जिनसे कि ये स्वशासन की संस्थाओं के रूप में कार्य कर सकें। इन विधियों में संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची में उल्लिखित विषयों सहित आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं बनाने आदि के जो काम पंचायतों को सौंपे जाएं, उनके विषय में उन्हें शक्तियों तथा उत्तरदायित्वों के न्यागमन से संबंधित उपबंध हो सकते हैं।
5. राज्य सरकारें, विधि द्वारा, पंचायतों को उपयुक्त कर, शुल्क, पथकर और फीस

का उद्ग्रहण और संग्रहण का प्राधिकार दे सकती हैं। वे पंचायतों को अनुदान दे सकती हैं और उनके लिए निधियां बना सकती हैं।

6. राज्य का विधानमंडल, विधि द्वारा, पंचायतों द्वारा अपना लेखा रखने और उनकी लेखापरीक्षा कराने के बारे में उपबंध कर सकता है।
7. उपर्युक्त संशोधन ने संविधान में ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ दी है जिसमें गांवों के आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए उनतीस विषयों का समावेश है।
8. राज्यपाल द्वारा नियुक्त एक नए निकाय 'राज्य वित्त आयोग' का सृजन किया गया है। इसका काम पंचायतों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करना और राज्यपाल को करों की शुद्ध आगमों के राज्य एवं पंचायतों के बीच बंटवारे के विषय में तथा राज्य की समेकित निधि से पंचायतों को सहायता अनुदान देने तथा साथ ही, पंचायतों की वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक उपायों के बारे में राज्यपाल को सिफारिशें करना है।
9. संशोधन के उपबंध अनुसूचित क्षेत्रों और कतिपय जनजातीय क्षेत्रों पर लागू नहीं होंगे जैसे कि नगालैंड, मिजोरम, मेघालय के राज्य, मणिपुर राज्य के पर्वतीय क्षेत्र जिनके लिए एक जिला परिषद विद्यमान है, तथा पश्चिम बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के पर्वतीय क्षेत्र जिसके लिए दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद बनी हुई है। यदि ये राज्य चाहेंगे तो उपर्युक्त क्षेत्रों को अधिनियम के उपबंधों के अंतर्गत लाने के लिए उपबंध कर दिया गया है।

4

लोकहित वाद

हाल के वर्षों में, वाद का एक नया प्रकार विकसित हुआ है जो इस रूप में पारंपरिक वादों से भिन्न है कि इसमें न कोई वादी या प्रतिवादी होते हैं और न राज्य/शिकायतकर्ता बनाम अभियुक्त। वाद का यह नया प्रकार कम खर्चीला और अधिक प्रभावोत्पादक है। जहां सरकार का कोई विभाग या कोई लोक प्राधिकरण विधि का अतिक्रमण या उत्पीड़न, अन्याय या शोषण करता पाया जाता है या जहां वह जल और पर्यावरण के प्रदूषण जैसे कृत्यों का दोषी है, जिनके लिए सामान्य सिविल या दांडिक विधि में कोई उपबंध नहीं है, वहां इनका शिकार अथवा इनसे आहत या आहत हो सकने वाला कोई भी व्यक्ति कार्रवाई का सूत्रपात कर सकता है जिसे लोकहित कार्रवाई या सामाजिक हित कार्रवाई कहा जाता है।

इसके अधीन लोग ऐसी बातों के विरुद्ध कार्रवाई कर सकते हैं जैसे कि ठेकेदारों द्वारा मजदूरों का शोषण, बंधुआ मजदूरों के रूप में बच्चों का प्रयोग, विचारणाधीन कैदियों का अवैध निरोध, अभिरक्षा के दौरान यंत्रणा, यहां तक कि ऐसे मुद्दे भी जैसे कि पर्यावरण प्रदूषण और इसके उपचार का अभाव।

अनुच्छेद 226 और 32 के अधीन उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय अपनी आरंभिक अधिकारिता के भीतर व्यथित पक्षों की शिकायतों को दूर करने के लिए राज्य के विरुद्ध रिटें/आदेश/व्यादेश आदि जारी कर सकते हैं। किंतु यह केवल लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध किया जाता है। अब उच्चतम न्यायालय ने गरीबों, दीनहीनों, विचारणाधीन बंदियों, बंदियों, स्त्रियों, बंधुआ और असंगठित मजदूरों, अनुसूचित जातियों/जनजातियों, दलितों आदि की समस्याओं को प्रकाश में लाने और उन्हें समर्थन प्रदान करने में सक्रिय भूमिका निभाने की पहल की है। अनेक मामलों में उच्चतम न्यायालय ने न्यायालय फीस और रिट प्रस्तुत करने की बारीकियों, याचिकादाता के अस्तित्व और यहां तक कि वकीलों की मदद के बिना भी याचिकाएं विचारार्थ स्वीकार की हैं। उसने किसी व्यक्ति, सामाजिक कार्यकर्ता या स्वैच्छिक संगठन द्वारा न्यायालय के समक्ष लोक अन्याय का मामला उठाने के लिए लिखे गए एक पत्र को ही आवेदन पत्र/शिकायत मानकर उस मुद्दे की सुनवाई शुरू की

है। ऐसा करके उच्चतम न्यायालय ने 'सुने जाने के अधिकार' की संकल्पना को एक नई परिभाषा दी है।

लोकहित वाद ने उच्चतम न्यायालय की पारंपरिक भूमिका में एक परिवर्तन ला दिया है। इसने उच्चतम न्यायालय को उन सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का समर्थन करने के लिए सकारात्मक कार्रवाई करने का अवसर दिया है जो परंपरा से न्यायालय द्वारा अप्रवर्तनीय माने जाते रहे हैं और इस प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 32 की व्याप्ति का विस्तार किया है। लोकहित वाद के माध्यम से नागरिक ऐसे मामलों में न्यायिक हस्तक्षेप की मांग कर पाते हैं जिनके साथ आम जनता का हित बंधा है। इस विस्तारित अधिकारिता के आधार पर न्यायपालिका ने सरकार और उसके विभिन्न अभिकरणों की समीक्षा करने और उन्हें मॉनीटर करने तथा राजनीतिक, प्रशासनिक या न्यायिक क्षेत्र में वस्तुतः हस्तक्षेप किए बिना समाज के दलित वर्गों को सामाजिक-आर्थिक न्याय प्रदान करने की जिम्मेदारी ले ली है।

लोकहित वाद और सामाजिक कार्रवाई वाद में कोई विशेष अंतर नहीं है। सामाजिक कार्रवाई वाद में, आक्षेपाधीन कार्रवाई से मूलतया आहत होने वाले जनता के किसी दृढ़निश्चयी वर्ग या समूह के विशिष्ट अधिकारों के प्रवर्तन के लिए याचिकाएं दी जाती हैं। इस वर्ग के सदस्यों को प्रत्यक्ष क्षति पहुंचती है और उनकी ओर से शिकायत दूर कराने की याचिका इसलिए प्रस्तुत की जाती है कि वे अपनी दरिद्रता, अशिक्षा और सामाजिक तथा आर्थिक अयोग्यता के कारण न्यायालय तक पहुंच पाने में असमर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ इनमें विचारणाधीन कैदी, पत्थर की खदानों में काम करने वाले मजदूर या देखभाल केंद्रों अथवा गृहों के आवासी, पटरियों पर रहने वाले लोग आदि सम्मिलित हैं। लोकहित वाद में लोगों के सामूहिक अधिकार प्रभावित होते हैं और इस प्रकार की क्षति से राहत मांगी जाती है। हो सकता है कि इसमें जनता के किसी सदस्य को प्रत्यक्ष विनिर्दिष्ट क्षति न पहुंची हो। उदाहरण के लिए, किसी झील या नदी में छोड़ा गया दूषित जल जिससे उन सभी को नुकसान पहुंचे जिन्हें शुद्ध जल से वंचित होना पड़ रहा है, हानिकर गैस जिसके निकलने से उसमें सांस लेने वाले को भारी संख्या में क्षति हो सकती है, रेडियो-दूरदर्शन पर सरकारी एकाधिकार को चुनौती देने वाली याचिका, टेलीफोन विभाग की अदक्षता, अनिवार्य नागरिक कर्तव्यों का अपालन आदि।

सामाजिक कार्रवाई वाद में न्यायालय ने याचिकादाता को याचिका को वापस लेने और कार्रवाइयों से स्वयं को अलग होने की अनुमति देने से इस आधार पर इनकार कर दिया है कि लोकहित वाद लाने वाले व्यक्ति को वाद-स्वामी का दर्जा नहीं दिया जा सकता क्योंकि इससे लोकहित वादों की कार्रवाइयां "एक नए आयाम के प्रति असुरक्षित और उससे प्रभावित हो सकती हैं जिसका कुछ मामलों में, लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए

उपयोग कर सकते हैं और उससे लोकहित को हानि पहुंच सकती है।"

उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती के शब्दों में :

लोकहित वाद विधिक सहायता आंदोलन की एक महत्वपूर्ण भुजा है और इसका उद्देश्य न्याय को निर्धन असुरक्षित लोगों और अन्याय के शिकार व्यक्तियों की पहुंच के भीतर लाना है।

लोकहित वाद का उद्देश्य समाज के उन दुर्बल, असंगठित और शोषित वर्गों के द्वार पर, जो मुकदमा लड़ने के ऊपर होने वाले अत्यधिक खर्च के कारण न्यायालयों के द्वार नहीं खटखटा सकते, न्याय को पहुंचाना है। लोकहित वाद किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध दूसरे व्यक्ति के अधिकार के प्रवर्तन के लिए न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जाता बल्कि इसका उद्देश्य लोकहित का संवर्धन एवं समर्थन करना है जिसका तकाजा है कि लोगों की बहुत बड़ी संख्या के, जो निर्धन और अज्ञानी हैं तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अलाभकर स्थिति में हैं, संवैधानिक तथा कानूनी अधिकारों की अनदेखी न हो और उनके प्रवर्तन में कोई कमी हो तो उसे दूर किया जाए। इसकी प्रकृति प्रतिपक्षीय वाद की नहीं है बल्कि यह सरकार और उसके अधिकारियों को आधारिक मानवाधिकारों को सार्थक बनाने के लिए एक चुनौती तथा अवसर है। न्यायालयों ने आंग्ल-सैक्सन विधिशास्त्र द्वारा विकसित प्रास्थिति (लोकस) के नियम को अर्थात केवल अन्याय का शिकार व्यक्ति ही न्यायिक राहत पाने के लिए न्यायालय में खड़ा हो सकता है, छोड़ दिया हैं। वर्तमान परिस्थितियों में यह पर्याप्त नहीं है। निचले स्तर के और उपेक्षित लोगों को न्याय सरलता से उपलब्ध होना चाहिए। विधि केवल सीमित लोगों के लिए ही उपलब्ध नहीं रहनी चाहिए। पुरानी व्यवस्था में भी किसी अवयस्क या समर्थांग व्यक्ति या निरुद्ध अथवा अवरुद्ध व्यक्ति की ओर से वादमित्र को न्यायालय में अभ्यावेदन करने की अनुमति होती थी। लोकहित वाद ने 'सुने जाने का अधिकार' के नियम को और शिथिल कर दिया है।

लोकहित न्याय में सहभागिता का एक अंश है और सिविल वाद में उस व्यक्ति की प्रास्थिति का न्यायिक तंत्र के द्वार पर उदारतापूर्वक स्वागत किया जाना चाहिए।

लोकहित वाद को विचारार्थ स्वीकार करने के लिए न्यायालय ने प्रक्रियात्मक नियमों को उदार बना दिया है। एक मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है, "लोक क्षति के निवारण, लोक कर्तव्य के प्रवर्तन, सामाजिक-सामूहिक विकीर्ण अधिकारों और हितों के संरक्षण अथवा लोकहित की रक्षा करने के लिए लाए गए वाद में, हर ऐसे नागरिक को जो सदाशयी है और जिसका पर्याप्त हित है, सुने जाने का अधिकार देना चाहिए।" व्यक्ति का समुचित हित है या नहीं, यह हर मामले में अलग से देखना होगा और इस विषय में कोई निश्चित प्राचल नियत नहीं किए जा सकते। एक मामले में जिसमें यह प्रश्न उठाया गया था कि

क्या न्यायाधीशों के स्थानांतरण को लेकर संबंधित न्यायाधीशों की ओर से वकीलों द्वारा लोकहित में लाई गई रिट याचिकाओं में उन वकीलों को 'सुने जाने का अधिकार' है?, यह निर्णय सर्वसम्मति से लिया गया था कि वकीलों का हित उस मामले से बद्ध है और उन्हें याचिका दायर करने का अधिकार है तथा उन्हें न्यायालय के द्वार से वापस नहीं लौटाया जा सकता। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने यह भी कहा है कि :

> अब इस बात को सुस्थापित माना जा सकता है कि जहां किसी व्यक्ति अथवा एक निश्चित व्यक्ति-समूह को उसके संवैधानिक या कानूनी अधिकार के उल्लंघन के कारण किसी विधिक अन्याय अथवा विधिक क्षति का शिकार होना पड़ा है या किसी संवैधानिक अथवा कानूनी उपबंध के उल्लंघन से अथवा कानूनी प्राधिकार के बिना उस पर कोई भार आरोपित किया गया है या ऐसे विधिक अन्याय या विधिक क्षति या अवैध भार की कोई आशंका है और ऐसा व्यक्ति या निश्चित व्यक्ति-समूह निर्धनता, असहायावस्था, निर्योग्यता या सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से अपनी अलाभकर स्थिति के कारण राहत के लिए न्यायालय तक पहुंचने में असमर्थ हैं तो जनता का कोई सदस्य अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में उचित निदेश, आदेश या रिट जारी करने के लिए आवेदन प्रस्तुत कर सकता है और यदि किसी व्यक्ति या निश्चित व्यक्ति-समूह के किसी मूल अधिकार का भंग हुआ है तो उसके साथ हुए विधिक अन्याय या विधिक क्षति का न्यायिक उपचार पाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय में आवेदन किया जा सकता है। जहां तक समुदाय के दुर्बल वर्गों का सरोकार है, जैसे कि बिना विचारण के जेलों में दिन काटने वाले विचाराधीन कैदी, आगरा के संरक्षण गृह के आवासी, या अजमेर जिले में सड़क निर्माण के काम में लगे हरिजन मजदूर जो दरिद्रता और दीनहीनता में जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जो अपना खून-पसीना बहाने पर भी कठिनाई से जीवित हैं, जो शोषण प्रधान समाज के असहाय शिकार हैं और जिनके लिए न्यायालय तक पहुंच पाना सरल नहीं है, उनके मामले में यदि कोई लोकसेवी नागरिक उनकी समस्याओं को उठाने और उन्हें राहत दिलाने के लिए आगे आता है तो यह न्यायालय नियमित रिट याचिका प्रस्तुत किए जाने पर बल नहीं देगा। ऐसे व्यक्ति द्वारा लोकहित में लिखे गए एक पत्र पर ही न्यायालय तत्परतापूर्वक ध्यान देगा।

प्रत्येक नागरिक को ऐसे कानूनों पर आपत्ति उठाने का अधिकार है जिन्हें बनाकर कार्यपालिका विधायी कार्यों को अनधिकारपूर्वक अपने दायरे में लेना चाह रही है। यह कार्यपालिका द्वारा अपनी शक्ति का छद्म प्रयोग है और संविधान के साथ कपट है। यदि कोई व्यक्ति इस तरह के मामले को आगे बढ़ाने से पीछे हटता है तो प्रत्येक नागरिक को उसका विरोध करने का अधिकार है और यदि उसकी बात न सुनी जाए तो उच्च न्यायालय

में पुनरीक्षण याचिका दायर करने और उच्च न्यायालय के निर्णय की उच्चतम न्यायालय में अपील करने का अधिकार है।

एक मामले में जिसमें लोकतांत्रिक अधिकारों के संरक्षण के लिए गठित किसी संगठन ने उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश को पत्र लिखकर यह आरोप लगाया था कि विभिन्न एशियाड परियोजनाओं में कार्यरत मजदूरों के मामले में श्रमिक विधियों का उल्लंघन हो रहा है, न्यायालय ने उस पत्र को ही रिट याचिका मान लिया था और यह निर्णय दिया था कि उक्त संगठन को 'सुने जाने का अधिकार' है और संबंधित पक्षों की सुनवाई के उपरांत, आवश्यक राहत प्रदान की थी।

मजदूरों से संबंधित एक अन्य मामले में, सार्वजनिक क्षेत्र के एक समापनाधीन उद्यम के कर्मियों के 'सुने जाने के अधिकार' पर विचार करते समय, न्यायालय ने निर्णय दिया कि इन कर्मियों का हित इस मामले से प्रत्यक्षतः बद्ध है और वे प्रभावित पक्ष हैं तथा उन्हें लोक कर्तव्यों और दायित्वों के व्यतिक्रमण की शिकायत करने का अधिकार है।

न्यायालयों ने न्याय के हित में एक लक्ष्यपरक दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने प्रक्रियात्मक बारीकियों पर जोर नहीं दिया है और कई मामलों में तो न्यायालय द्वारा वकालतनामे और शपथपत्र दाखिल करने के लिए भी नहीं कहा गया है।

विचाराधीन बंदियों के मामले में समाचार पत्र की रिपोर्टों और पत्रों के आधार पर ही मामले विचारार्थ स्वीकार कर लिए गए हैं। जब न्यायालय की जानकारी में यह बात लाई गई कि बहुत बड़ी संख्या में स्त्री, पुरुष और बच्चे वर्षों से जेल में निरुद्ध हैं और उन्हें तुच्छ अपराधों के लिए विचारण की प्रतीक्षा करनी पड़ रही है, जो यदि सिद्ध भी हो जाएं तो अपराधियों को कुछ महीने या दो साल से ज्यादा की सजा नहीं सुनाई जा सकती, तो न्यायालय ने निदेश जारी किए कि ऐसे मामलों की तुरंत सुनवाई होनी चाहिए और उसने उन विचाराधीन बंदियों को रिहा कर दिया जिन्होंने वह अधिकतम अवधि जेल में काट ली थी जिसकी सजा उनका कथित अपराध सिद्ध हो जाने पर उन्हें दी जा सकती थी।

विभिन्न एशियाड परियोजनाओं में कार्यरत मजदूरों के मामले में, न्यायालय ने राहत भी प्रदान की और साथ ही, तीन लोकपाल नियुक्त करके उनसे निवेदन किया कि वे निर्माण के कार्यस्थलों का समय समय पर निरीक्षण करके यह मालूम करें कि वहां श्रमिक विधियों के उपबंधों का पालन हो रहा है या नहीं और मजदूरों को दिए जाने वाले हितलाभ और सुविधाएं उन्हें सचमुच प्राप्त हो रही हैं या नहीं। लोकपालों से कहा गया कि वे इस संबंध में एक रिपोर्ट न्यायालय को प्रस्तुत करें।

इसी प्रकार, उन मामलों में जहां कर्मकार बंधुआ जीवन जी रहे थे या अमानवीय परिस्थितियों में काम कर रहे थे, वहां न्यायालय ने उनके जीवन की परिस्थितियों को

सुधारने और उन्हें सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए निदेश जारी किए ताकि वे सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता का उपयोग कर सकें।

पत्रकारों और मुंबई के एक सामाजिक कार्रवाई समूह द्वारा दायर किए गए एक वाद में पटरी पर रहने वालों और खोमचे वालों की ओर से न्यायिक राहत पाने के लिए आवेदन किया गया था जिन्हें मुंबई नगर निगम द्वारा बलपूर्वक अपनी जगह से हटाए जाने और अपनी खोलियों के गिराए जाने का खतरा था। इस मामले में न्यायालय ने पहली बार यह निर्णय दिया कि संविधान के अनुच्छेद में प्रतिष्ठापित जीवन के अधिकार में आजीविका का अधिकार समाविष्ट है : "व्यक्ति को उसकी आजीविका से वंचित करना, उसे उसके जीवन से वंचित करना है।" इस निर्णय ने जीवन के संवैधानिक अधिकार की परिधि बढ़ाकर उसमें आजीविका के अधिकार को समाहित कर दिया।

जब गंगा नदी के प्रदूषण को न्यायालय की जानकारी में लाया गया तो उसने कहा कि :

> यदि नदी के तट पर निवास करने वाले किसी व्यक्ति को नगर निगम द्वारा अकुशलतापूर्वक संसाधित मल-जल को नदी में छोड़ने के कारण क्षति हुई है और वह न्यायालय में कार्रवाई लाता है तो व्यादेश के द्वारा नगर निगम को ऐसा करने से रोका जा सकता है। गंगा नदी के प्रदूषण से उत्पन्न न्यूसेंस एक लोक न्यूसेंस है जिसकी सीमा व्यापक है और प्रभाव असंख्य लोगों पर है। अतः समूचे समुदाय से भिन्न, किसी व्यक्ति विशेष से उसे रोकने के लिए कार्रवाई करने की आशा करना उचित नहीं होगा।

लोकहित वाद में पक्षों की प्रास्थिति के बारे में न्यायालय ने कहा कि इस तरह के वाद की प्रकृति प्रतिपक्षीय नहीं है जिसका उद्देश्य राज्य सरकार या उसके अधिकारियों को प्रतिपूर्ति के लिए जिम्मेदार ठहराना हो। इस तरह का वाद तो राज्य सरकार और उसके अधिकारियों, मामले में पेश होने वाले वकीलों और न्यायपीठ द्वारा मिलकर सहयोग करते हुए समुदाय के कमजोर-वर्गों के लिए मानवाधिकारों को सार्थक बनाने का प्रयास है। यह इस देश के मानव समुदाय के वंचित और असुरक्षित वर्गों को सामाजिक-आर्थिक न्याय प्रदान करने की दिशा में बढ़ाया गया एक कदम है।

कार्यपालिका की निष्क्रियता या मंद क्रिया के मामलों में, अनुच्छेद 19 और 21 के साथ पठित अनुच्छेद 38 में प्रतिष्ठापित संवैधानिक आकांक्षाओं की पृष्ठिभूमि में न्यायिक निदेशों के द्वारा, लोकहित में, कुछ सुधारात्मक उपाय के रूप में सकारात्मक कार्रवाई करना निश्चित सीमाओं के भीतर अनुमेय है।

लोकहित को आगे बढ़ाना और लोक अनिष्ट का परिहार करना सर्वाधिक विचारणीय विषय है। न्यायालय का सरोकार हितों के संतुलन से है। यद्यपि न्यायालय को उन छद्मवेशी

लोकहितैषी नागरिकों के कहने पर कोई कार्रवाई करने से इंकार कर देना चाहिए जो ऊटपटांग और अनुत्तरदायित्वपूर्ण आरोप लगाकर दूसरों के चरित्र को कलंकित करना चाहते हैं पर साथ ही, न्यायालय को इस तरह प्रकाश में आने वाले सरासर शरारती कार्यपालक कार्यों का समर्थन नहीं करना चाहिए। जब मनमानापन और दुष्टता असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाए तो न्यायालय अपने कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ सकता और आदेश जारी करने से इंकार नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन न्यायालय कार्रवाइयों के विशिष्ट प्रयोजन अर्थात मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपयुक्त प्रक्रिया के सृजन के लिए स्वतंत्र हैं। न्यायालय को किसी वाद विशेष में जो भी निदेश, आदेश या रिट जारी करना आवश्यक हो वह करने की शक्ति है। अनुच्छेद 32 और 226 उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों पर लोगों के मूल अधिकारों को संरक्षण प्रदान करने का संवैधानिक दायित्व डालते हैं और इस प्रयोजन के लिए न्यायालयों के पास मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए, खासतौर से निर्धन और अलाभकर स्थितियों में जीने वालों के मामले में जो बुनियादी मानवाधिकारों से वंचित हैं और जिनके लिए स्वतंत्रता का प्रायः कोई अर्थ ही नहीं है, नए उपचार और नई युक्तियां विकसित करने की सभी प्रासंगिक एवं आनुषंगिक शक्तियां विद्यमान हैं।

लोकहित वाद में न्यायालय को प्रदत्त शक्ति केवल मूल अधिकार के अतिलंघन को रोकने की ही नहीं है बल्कि मूल अधिकार का जो भंग हो चुका है उसके विरुद्ध राहत प्रदान करने की भी है। न्यायालय ने उपयुक्त मामलों में उपचारी राहत भी मंजूर की है जिसके अंतर्गत प्रतिकर दिलाना भी है।

लोकहित वाद के अधीन प्रस्तुत याचिका को सिविल न्यायालयों की सामान्य प्रक्रियाओं के द्वारा मूल अधिकारों के अतिलंघन से उत्पन्न क्षति की पूर्ति के दावे के अधिकार के प्रवर्तन के स्थानापन्न के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। किसी मूल अधिकार के भंग के असाधारण मामलों में ही प्रतिकर का आदेश दिया जाता है। मूल अधिकार का अतिलंघन घोर और सुस्पष्ट होना चाहिए अर्थात अविवाद्य एवं सुस्पष्ट होना चाहिए और वह या तो बहुत बड़ी संख्या में लोगों के मूल अधिकारों का बड़े पैमाने पर अतिलंघन होना चाहिए या प्रभावित व्यक्तियों की निर्धनता या निर्योग्यता या सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उनकी अलाभकर स्थिति के कारण अन्यायपूर्ण या अत्यधिक कठोर अथवा दमनात्मक प्रतीत होना चाहिए। तभी वे सिविल न्यायालय में अनुयोग लाने और उस पर बल देने के लिए प्रेरित होंगे।

लोकहित वाद के मामलों में, जब न्यायालय, विशेषकर उच्चतम न्यायालय, सांविधिक निकायों को बड़े सार्वजनिक महत्व के मुद्दों को समाविष्ट करने वाली कार्रवाइयों में भाग लेने और न्यायालय की सहायता करने के लिए आमंत्रित करता है तो ये निकाय

उसका जवाब देने और न्यायालय के समक्ष चलने वाली कार्रवाई में भाग लेने के लिए कर्तव्यबद्ध हैं। ये निकाय वादकारी नहीं हैं और इनके सामने यह विकल्प नहीं है कि वे साधारण वादों में निजी पक्षों की तरह न्यायालय में उपस्थित न होने का रास्ता चुन लें। जब न्यायालय, स्वप्रेरणा से, नामनिर्दिष्ट सांविधिक या अन्य प्राधिकारियों को अपनी बात करने का अवसर देता है और उन्हें न्यायालय में आकर वाद के संगत पहलुओं पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित करता है तो निष्ठुर उदासीनता का परिचय देने वाले निकायों के रुख को सराहा नहीं जा सकता। लोकहित वाद कोई सामान्य वाद नहीं होता जिसमें प्रतिपक्षी एक-दूसरे के विरोधी होते हैं।

कुछ मामलों में प्रथम स्तर के न्यायालय होने के कारण उच्च न्यायालयों को उच्चतम न्यायालय की अपेक्षा मामलों पर अधिक कारगर ढंग से कार्रवाई करने की अधिकारिता है। इसलिए ऐसे मामलों में यही वांछनीय है कि उच्च न्यायालय की अधिकारिता के भीतर आवश्यक कार्रवाई करने के लिए उक्त न्यायालय से आवेदन किया जाए। अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय को प्राप्त शक्तियों की तुलना में अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय को किसी शक्तियों की व्याप्ति अधिक है अतः वह संबंधित पक्षों को उचित राहत देने में सक्षम है।

किंतु यहां एक पहलू के प्रति सावधान करने की आवश्यकता है जिसे उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति वी. खालिद ने सर्वाधिक उपयुक्त शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया था :

> अपनी ओर से इन थोड़ी-सी पंक्तियों को जोड़ने का मेरा प्रयोजन लोकहित वादियों द्वारा न्यायालय के द्वार खटखटाते समय संयम बरतने की आवश्यकता को रेखांकित करना है। लोकहित वाद अब अपना स्थान बना चुका है। किंतु ऐसा लगता है कि यह न्यायालय और जनता, दोनों के लिए परेशानी पैदा कर रहा है। वर्तमान में, ऐसे मामले अकारण ही दायर कर दिए जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसी याचिकाओं को विचारार्थ स्वीकार करने के लिए स्पष्ट मार्गदर्शक नियम और सही प्राचल निर्धारित कर दिए जाएं। यदि न्यायालयों ने लोकहित वाद के नाम पर दायर किए जाने वाले ऐसे मामलों के अबाध प्रवाह को न रोका तो इससे पारंपरिक वाद पर दुष्प्रभाव पड़ेगा और न्यायालयों को, न्याय प्रदान करने के स्थान पर, प्रशासनिक और कार्यपालक काम अपने हाथों में लेने पड़ जाएंगे। केवल तभी जब किसी समूह या वर्ग की कार्रवाई के द्वारा न्यायालय की जानकारी में मूल अधिकारों के घोर उल्लंघन को लाया जाता है या जब आधारभूत मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है या जब ऐसे कृत्यों की शिकायतें आएं जिनसे न्यायिक अंतःकरण को चोट पहुंचे, तब न्यायालयों, विशेषकर इस न्यायालय को प्रक्रियात्मक बंधनों को एक तरफ रखकर ऐसी याचिकाओं की सुनवाई करनी चाहिए और जरूरतमंद, दलित तथा उपेक्षित लोगों

के कष्ट, दुःख और दुर्गति का उपचार करने के लिए सभी उपलब्ध उपबंधों के अधीन अपनी अधिकारिता का विस्तार करना चाहिए। जब ऐसी सहायता की जरूरत हो तो मैं सबसे आगे बढ़कर सहायता करूंगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इस न्यायालय के दरवाजे सबके लिए हर समय खुले हैं चाहे वह कोई भी हो। लोकहित वादियों के लिए कुछ आत्मसंयम बरतना आवश्यक है।

5

अधिवक्ता (वकील)

न्यायाधीशों के अलावा, वकील न्यायालय के सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी हैं। न्यायालयों, अधिकरणों आदि में लगभग हर मामले में विवादी पक्षकार अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए वकील करते हैं। वकील परम आवश्यक है और सच पूछा जाए तो विधि के अनुसार निष्पक्षता, औचित्य और न्याय की पूरी संरचना ही इस बात पर निर्भर करती है कि अधिवक्ता ने कोई मामला किस प्रकार प्रस्तुत किया है।

वकील/अधिवक्ता/बैरिस्टर/सॉलीसीटर सदा से विद्यमान रहे हैं। जब से विवादों का फैसला बल प्रयोग के स्थान पर तर्क और माध्यस्थम् के द्वारा होना शुरू हुआ तब से वकीलों का अस्तित्व है—अधिवक्ता ग्रीस और रोम में थे और प्राचीन भारत में भी थे।

भारत में, विधि व्यवसाय और विधि प्रणाली का जो रूप आज हम देखते हैं, वह पश्चिम की तरह किसी ऐतिहासिक विकास का परिणाम नहीं है। इसे अंग्रेजों ने भारत में लाकर रोप दिया था। फिर भी, इसने गहरी जड़ें जमा लीं और भारत की सामाजिक-राजनीतिक भूमि में यह अंग्रेजी राज के तार्किक विस्तार के रूप में पनप गया। जाति, संस्कृति और धर्म के वैविध्य वाले भारत देश में अनेक प्रकार के कानून लागू थे और उसके निवासी भिन्न भिन्न प्रणालियों द्वारा शासित थे। भारत में अंग्रेजी राज के पांव जम जाने के कारण, विधि और प्रक्रिया की एकरूपता स्थापित की गई और सर्वव्यापी सिविल तथा दंड संहिताएं लागू की गयीं। अपनी विधियों को लागू करने के लिए शासकों ने अपनी विधियां, वकील और न्यायालय प्रविष्ट किए। अंग्रेज तो 1947 में चले गए पर हम अभी तक उनके बाहरी आडंबर से चिपके हुए हैं—वही फटे गाउन, वही 'माई लार्ड' और 'योर वर्शिप' जैसे सामंती संबोधन आदि आदि।

विधिक परितोष एक ऐसी ऊंची कला हो गई है कि पेशेवर वकील की सहायता के बिना न्याय के स्रोत तक पहुंचना ही लगभग असंभव है, न्याय पाना तो दूर की बात है। न्यायाधीश स्वयं यह सुझाव देने में संकोच नहीं करते कि यदि वादकारी न्यायालय के पुरोहित अर्थात वकील के द्वारा उन तक पहुंचता है तो न्याय अधिक अच्छी प्रकार से किया जा सकता है। यदि वह वकील का खर्चा वहन नहीं कर सकता तो न्यायालय के नियंत्रण पर

उसकी सहायता के लिए कोई न्यायमित्र नियुक्त कर दिया जाता है जो सिद्धांततया केवल न्यायालय के प्रति ही उत्तरदायी होता है।

न्यायालयों में अधिवक्ता के रूप में विधि व्यवसाय कर सकने वाले व्यक्ति अधिवक्ता अधिनियम 1961 से शासित होते हैं। केवल वे ही लोग व्यवसाय करने के हकदार हैं जो केंद्रीय बार काउंसिल या राज्य बार काउंसिलों द्वारा अधिवक्ता के रूप में अभ्याविष्ट हैं और जिन्होंने राज्य बार काउंसिल या केंद्रीय बार काउंसिल द्वारा मान्यता प्राप्त विधि की उपाधि प्राप्त कर ली है। अधिवक्ता कहे जाने वाले विधि व्यवसायियों का एक ही वर्ग है जिसे सामूहिक रूप से बार कहते हैं। इन्हें अभ्यावेदन के लिए एक समान शैक्षिक योग्यताएं अर्जित करनी होती हैं।

अधिवक्ताओं के दो वर्ग हैं– ज्येष्ठ तथा अन्य। यदि कोई अधिवक्ता चाहे तो उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय उसे ज्येष्ठ अधिवक्ता के रूप में अभिहित कर सकता है। यदि न्यायालय की राय में उस अधिवक्ता की योग्यता और बार में प्रतिष्ठा वैसी हो और/या उसे विधि का विशेष ज्ञान या विधि में विशेषज्ञता हो। ज्येष्ठ अधिवक्ता के रूप में अभिहित हो जाने पर अधिवक्ता से स्वयं कार्य करने अर्थात् वकालतनामा फाइल करने, अभिवचन तैयार करने आदि की आशा नहीं की जाती। बल्कि यह अपेक्षा की जाती है कि वह अन्य अधिवक्ताओं के साथ और उनकी सहायता लेते हुए न्यायालय में उपस्थित होगा। उनसे पक्षकारों के प्रत्यक्ष संपर्क में आने की आशा नहीं जाती और न्यायालय में उन्हें अन्य अधिवक्ताओं से अग्रता प्राप्त होती है। बार काउंसिल ऑफ इंडिया, नियम 1 (क) और उच्चतम न्यायालय नियम 1966 के आदेश 4 के नियम 2 (ख) द्वारा ज्येष्ठ अधिवक्ताओं पर लगाए गए प्रतिबंध इस प्रकार हैं :

बार काउंसिल ऑफ इंडिया का नियम 1 (क) :

ज्येष्ठ अधिवक्ता वकालतनामा फाइल नहीं करेगा या किसी न्यायालय या अधिकरण या अधिनियम की धारा 30 में उल्लिखित किसी अन्य व्यक्ति या प्राधिकारी के समक्ष कार्य नहीं करेगा।

उच्चतम न्यायालय नियम 1966 के आदेश 4 का नियम 2 (ख) :

ज्येष्ठ अधिवक्ता (1) वकालतनामा फाइल नहीं करेगा या किसी न्यायालय में कार्य नहीं करेगा। 'कार्य करना' अभिव्यक्ति से तात्पर्य है 'किसी न्यायालय में उपस्थिति, अभिवचन या आवेदन फाइल करना'।

भारत की किसी राज्य बार काउंसिल की नामावली में अंकित अधिवक्ता को उच्चतम न्यायालय सहित भारत के किसी न्यायालय में और किसी अधिकरण या साक्ष्य लेने के लिए विधितः प्राधिकृत प्राधिकरण में विधि व्यवसाय करने का अधिकार है।

किंतु अधिकरण के समक्ष विधि व्यवसाय करने का अधिवक्ता का अधिकार आत्यंतिक नहीं है क्योंकि कुछ मामलों में विधि ने यह अधिकार छीन लिया है या उसे निर्बंधित कर

दिया है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक न्यायालयों और कुटुंब न्यायालयों में अधिवक्ता विरोधी पक्ष की सहमति के बिना, केवल अपने वकालतनामे के बल पर पेश नहीं हो सकता। कारण यह है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम और कुटुंब न्यायालय अधिनियम विशेष कोटि के अधिनियम हैं जो अधिवक्ता अधिनियम, 1961 पर, जो कि एक सामान्य अधिनियम है, अभिभावी हैं।

वृत्तिक कदाचार और वकीलों के विरुद्ध कार्रवाई

यह एक आम धारणा है कि वकील कानून से परे हैं और एक बार मामला उनको सौंप दिया जाए तो वे जिस तरह चाहें उसे लड़ सकते हैं या ऐसे काम कर सकते हैं या करने से विरत हो सकते हैं जिन्हें कदाचार माना जाएगा। पर ऐसा है नहीं। वकीलों के विरुद्ध कार्रवाई की जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति यह अनुभव करता है कि किसी अधिवक्ता ने कोई ऐसा काम किया है जिसे कदाचार कहा जा सकता है तो वह राज्य बार काउंसिल की अनुशासन समिति के समक्ष शिकायत कर सकता है जिसे अधिवक्ता अधिनियम के अधीन इस प्रकार के अधिवक्ता के विरुद्ध कार्रवाई करने का अधिकार है।

बार काउंसिल ऑफ इंडिया समेत सभी राज्य बार काउंसिलों के लिए अधिवक्ता अधिनियम के अधीन यह आवश्यक है कि वे एक या अधिक अनुशासन समितियां गठित करें। इनमें से हर समिति में तीन सदस्य होते हैं जिनमें से दो सदस्य काउंसिल द्वारा अपने सदस्यों में से चुने जाते हैं और एक सदस्य अधिवक्ताओं में से सहयोजित किया जाता है। इस सदस्य के पास उपयुक्त अर्हताएं होनी चाहिए और वह बार काउंसिल का सदस्य नहीं होना चाहिए। अनुशासन समिति का वरिष्ठतम सदस्य उस समिति का अध्यक्ष होता है।

शिकायत मिलने पर अनुशासन समिति शिकायतकर्ता और संबंधित अधिवक्ता को नोटिस भेजती है और दोनों पक्षों को अपनी बात कहने का अवसर देती है। उनकी सुनवाई के बाद समिति निम्नलिखित में से कोई आदेश दे सकती है :

1. शिकायत को खारिज कर दे;
2. अधिवक्ता की भर्त्सना करे;
3. समिति जितने समय के लिए उचित समझे, अधिवक्ता को विधि व्यवसाय करने से निलंबित कर दे;
4. कोई गंभीर अपराध सिद्ध हो जाए तो वह अधिवक्ता का नाम राज्य के अधिवक्ताओं की नामावली से काट दे।

एक बार निलंबित हो जाने पर अधिवक्ता तब तक कहीं—किसी न्यायालय या अधिकरण में—विधि व्यवसाय नहीं कर सकता है जब तक कि उसके निलंबन की अवधि समाप्ति नहीं हो जाती।

बार काउंसिल ऑफ इंडिया में अपील

राज्य बार काउंसिल की अनुशासन समिति के किसी आदेश से व्यथित व्यक्ति उस आदेश की तारीख से साठ दिन के भीतर बार काउंसिल ऑफ इंडिया में अपील कर सकता है। ऐसी अपीलों की सुनवाई बार काउंसिल ऑफ इंडिया की अनुशासन समिति द्वारा की जाती है जो उस पर जैसा उचित समझे, आदेश कर सकती है। इसमें दंड में फेरबदल करना भी शामिल है। ऐसा दोनों पक्षों की सुनवाई के बाद ही किया जाता है।

उच्चतम न्यायालय में अंतिम अपील

बार काउंसिल ऑफ इंडिया के किसी आदेश से व्यथित व्यक्ति उस आदेश की तारीख से साठ दिन के भीतर भारत के उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल कर सकता है। उच्चतम न्यायालय, दोनों पक्षों को सुनने के बाद, जैसा उचित समझे, आदेश दे सकता है जिसमें बार काउंसिल ऑफ इंडिया की अनुशासन समिति द्वारा दिए गए दंड में फेरबदल करना सम्मिलित है।

आज लगभग सर्वत्र अधिवक्ताओं के गिरते मानदंडों की बात अनुभव की जा सकती है। लोग वकीलों को एक अवांछनीय आवश्यकता मानने लगे हैं। ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, निर्भयता और उचित फीस लेना बीते जमाने की बातें होती जा रही हैं। न्यायप्रियता, निर्भयता, योग्यता और ईमानदारी वकीलों के परम आवश्यक गुण हैं। सुविधापूर्ण जीवनयापन और अपने कर्तव्य को कुशलतापूर्वक, ईमानदारी से तथा निर्भयता से पूरा करने के लिए वकीलों के लिए फीस लेना जरूरी है लेकिन यह धन एकत्र करने का धंधा और कठिनाई में पड़े मुवक्किल को लूटने-खसोटने का साधन नहीं बन जाना चाहिए। वकीलों को विलंब, कार्रवाइयों की बहुलता और न्यायाधीशों को भ्रष्ट करने के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है।

उपर्युक्त में से कुछ आलोचना अनुचित है। दोष वादकारी का भी है क्योंकि वे किसी भी तरह मुकदमा जीतना चाहते हैं; इसी प्रकार प्रतिवादी या अभियुक्त किसी भी तरह छूट जाना चाहते हैं। वकील को फीस लेकर मुवक्किलों की बातों में नहीं आना चाहिए। गिरते मानदंडों को लेकर की जा रही आलोचना को समाप्त करने के लिए स्थिति में काफी सुधार लाने की आवश्यकता है। संबंध कायम करने के बजाय बार की उच्च परंपराओं, ऊंचे मूल्य-मानों, विद्वता और अधिवक्तृता का आधार लेने से ऊंचे मानदंड बनाए जा सकते हैं। न्यायाधीशों से संबंध निर्माण करने से नहीं। यह सुनिश्चित करना वकीलों की जिम्मेदारी है कि जनता उनके पेशे को हेय दृष्टि से न देखे।

6

मुकदमे का खर्चा

मुकदमे का खर्चा और मामलों का निर्णय होने में अत्यधिक विलंब हमारी विधिक प्रणाली की पहचान बन चुके हैं। हर मुकदमा एक महंगा सौदा है : न्यायालय फीस, वाद करने का खर्च, न्यायालय के अंदर का खर्च, अन्य विविध खर्च, वकील की फीस–मुवक्किलों को यह सारा खर्च उठाना पड़ता है।

न्यायतंत्र को कार्यशील रखने में राज्य को भारी रकम खर्च करनी पड़ती है। न्यायाधीशों के वेतन, कर्मचारीगण, निर्णयों, डिक्रियों और वारंटों को कार्यान्वित करने के लिए कर्मचारी, पुलिस और जेलों का खर्च–ये सभी खर्चे राज्य को उठाने पड़ते हैं।

न्याय के प्रशासन के लिए उचित तंत्र की व्यवस्था करके शांति सुनिश्चित करना संगठित राज्य का प्रथम कर्तव्य है। आपराधिक न्यायालयों का व्यय लोक निधियों में से उठाया जाता है, क्योंकि विधि में ऐसा कोई उपबंध नहीं है कि अभियुक्त या दोषी व्यक्ति से खर्च वसूल किया जाए, और जुर्माने के रूप में वसूल की गई स्वल्प राशियों में से न्यायपालिका, कर्मचारीवृंद, न्यायालयों, अभियोजकों, पुलिस अधिकारियों आदि के खर्च की पूर्ति नहीं की जा सकती। मौलिक सिद्धांत यह है कि अपराध का विचारण स्थानीय स्तर पर होना चाहिए और स्थानीय प्राधिकारियों तथा राज्य को न्यायालय भवन, मजिस्ट्रेटों के वेतन, कर्मचारीवृंद और अन्य व्यय, पक्षकथन तैयार करने, और गंभीर मामलों में निर्धन अभियुक्तों की प्रतिरक्षा के लिए वकील उपलब्ध कराने आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। अभियोजन का व्यय भी राज्य को उठाना पड़ता है। आपराधिक आरोपियों के विचारण का खर्च काफी ज्यादा होता है। (इसमें अभियुक्त को पकड़ने और यदि उसका अपराध सिद्ध हो जाए तो उसे दंड देने और कारवास में रखने का खर्च शामिल नहीं है।) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को छोड़कर, जिनके वेतन आदि भारत की समेकित निधि से संदाय किए जाते हैं, शेष सभी खर्चे राज्य अथवा स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा उठाए जाते हैं। आबादी बढ़ने, गरीबी और पारिवारिक/सामाजिक नियंत्रणों तथा प्राधिकार के समाप्त होने के साथ साथ अपराधों की संख्या बढ़ रही है अतः अपराधों का पता लगाने, अन्वेषण करने और अपराधी को दंड दिलाने का खर्च भी बराबर बढ़ता जा रहा है।

वैसे, सिविल न्यायालय में, मुवक्किल को इन तीन मुख्य मदों पर खर्च करना पड़ता है :

1. न्यायालय फीस, जो राज्यों की आय का अच्छा खासा स्रोत है और जिसकी दर काफी ऊंची है;
2. साक्ष्य एकत्र करने और साक्षियों को अपना पक्ष सिद्ध करने या प्रतिरक्षा के लिए न्यायालय तक लाने का खर्च;
3. अधिवक्ताओं की फीस और पक्षकथन तैयार करने के तथा अन्य विविध व्यय।

हमारे विधिक तंत्र ने यह सिद्धांत अपनाया है कि उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय में, न्यायाधीशों का वेतन लोक निधियों से वहन किया जाएगा और सिविल न्याय के प्रशासन का शेष समस्त व्यय मुवक्किल उठाएं। न्यायालय फीस की अनुसूची का निर्धारण राज्य सरकार करती है और यह हर राज्य में भिन्न भिन्न है और उच्चतम न्यायालय ने हाल के एक निर्णय में यह कहा है कि राज्य किसी भी सीमा तक न्यायालय फीस में वृद्धि कर सकता है।

हमारे विधिक तंत्र में मुवक्किलों के लिए मुकदमे लड़ना काफी महंगा पड़ता है, जिसके कुछ कारण इस प्रकार हैं :

1. हमारी प्रक्रिया ऐसी है कि उसमें अधिकांश मामले मौखिक साक्ष्य से सावित होते हैं जिसमें साक्ष्य के तकनीकी नियमों के अधीन खुले न्यायालय में साक्षी की परीक्षा, प्रतिपरीक्षा और पुनः परीक्षा होती है। इस प्रक्रिया की गुणवत्ता जो भी हो, इसमें न्यायालय की कार्रवाई का विचारण वाला चरण काफी अधिक समय लेता है और उसके लिए उच्च प्रशिक्षित और विशेष वर्ग के अधिवक्ताओं की आवश्यकता पड़ती है।
2. विधि व्यवसाय का वरिष्ठ और कनिष्ठ अधिवक्ताओं के बीच विभाजन। इसके फलस्वरूप मुवक्किल को कम से कम दो अधिवक्ताओं की फीस देनी पड़ती है।
3. हमारे विधिक तंत्र की विचित्र स्थिति है जिसमें अधिवक्ताओं की कमाई किसी-न-किसी प्रकार की मुकदमेबाजी से संबंधित फीसों पर निर्भर होती है। वकालत के पेशे में सही प्रकार के लोगों को आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि वकीलों को जितना कठिन परिश्रम करना पड़ता है और उन पर जितनी जिम्मेदारी होती है, उनका पारिश्रमिक उसके अनुरूप हो। इसके अलावा, बार में क्षीण प्रैक्टिस के वर्षों की कठिनाई और साथ ही, यह तथ्य कि अधिवक्ता के पारिश्रमिक का लगभग एकमात्र स्रोत मुकदमों से मिलने वाली फीस है, यह आवश्यक कर देता है कि फीसों का स्तर पर्याप्त ऊंचा हो—वकीलों द्वारा ऊंची

फीसें लेने का आमतौर पर यही औचित्य बताया जाता है। मुकदमे पर लगने वाले खर्च का पूर्वानुमान करना अब नितांत असंभव हो गया है। किसी पक्ष या अधिवक्ता के लिए खर्च का पूर्वानुमान लगाना कठिन और कभी कभी असंभव सी बात है। सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि प्रतिपक्ष और/या अधिवक्ता तथा न्यायालय किस प्रकार मामले का संचालन करते हैं (जिसमें छोटी छोटी बातों पर तारीखें डाल देना सम्मिलित है), अतः यह कोई नहीं कह सकता कि मामला जीतने वाला पक्ष रकम की दृष्टि से भी विजयी रहेगा। यदि मुवक्किल को पहुंचने वाली यंत्रणा, लगने वाले समय और मुकदमे के खर्च को हिसाब में लिया जाए तो कहा नहीं जा सकता कि जीतने पर भी वह सचमुच जीता है। छोटी राशि के दावे और छोटे मुवक्किल विशेष घाटे में रहते हैं। मुकदमे का खर्च दावे की लगभग पूरी रकम को चाट जाता है। और कभी कभी तो मुकदमे का खर्च विवादित रकम से भी अधिक बैठता है; ऐसा न भी हो तो भी वह दावे की रकम का इतना बड़ा हिस्सा बन जाता है कि मुकदमा लड़ना ही व्यर्थ हो जाता है। इसके विपरीत, वे व्यक्ति और संगठन जिनके मुकदमे पर खर्च करने के लिए उपलब्ध वित्तीय संसाधन काफी ज्यादा या अपेक्षाकृत ज्यादा हैं, वे दावे के लिए लड़ने या प्रतिरक्षा करने में प्रत्यक्षतः लाभप्रद स्थिति में रहते हैं। पहली बात तो यह है कि वे मुकदमे का खर्च उठा सकते हैं। वे ऊंची ऊंची फीसें दे सकते हैं और योग्यतम वकील कर सकते हैं। इसके अलावा, वे मुकदमे में लगने वाले विलंब को सहन कर सकते हैं। विवाद के एक पक्ष के पास इनमें से होने वाली प्रत्येक क्षमता एक शक्तिशाली अस्त्र साबित हो सकती है। ऐसे में मुकदमे की धमकी सच्ची और कारगर सिद्ध होती है। इसी प्रकार, हो सकता है कि दोनों पक्षों में से एक पक्ष ज्यादा खर्च करने की स्थिति में हो, जिसके परिणामस्वरूप वह अपना मुकदमा ज्यादा प्रभावी तरीके से लड़ सकता हो। निष्क्रिय निर्णेता, उनके अन्य प्रशंसनीय गुण जो भी हों, अन्वेषण और साक्ष्य प्रस्तुत करने तथा मामले को विकसित करने और बहस के लिए वाद के पक्षकारों पर निर्भर होकर निश्चित रूप से इस समस्या को और भी बढ़ा देते हैं।

4. सुनवाई के दिन निश्चित न होने के कारण विवादी पक्षकारों, उनके गवाहों और वकीलों को कई बार तो कई कई दिन प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ता है, तब जाकर न्यायालय में उनकी पुकार होती हैं। इस कारण समय और धन, दोनों का अपव्यय होता है। जब यह पता ही न हो कि कितने दिनों या कितने सप्ताहों में मामले की सुनवाई होगी और होगी भी या कि तारीख पड़ जाएगी, तब मामले से

संबंधित अन्य बातों के लिए भी पक्की व्यवस्थाएं करना कठिन हो जाता है।

5. वर्तमान तंत्र में, अपीलों की भी बहुलता है और अपीलों पर खर्च भी बहुत होता है।

आप देखेंगे कि, सब न सही, पर उपर्युक्त में से बहुत से कारणों की जड़ें हमारे वर्तमान विधिक तंत्र में और उसकी लंबी परंपराओं में गहरी जमी हैं। जब तक हम अपने वर्तमान तंत्र के इन आवश्यक लक्षणों को बनाए रखना चाहेंगे, इसके प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में, मुकदमा लड़ना बड़ा खर्चीला काम बना रहेगा।

सिविल और दांडिक मामलों के अलावा, आयकर, बिक्रीकर और सीमा शुल्क, एकाधिकार तथा अवरोधक व्यवहार आयोग, परिवार न्यायालय आदि बहुत से सांविधिक अधिकरण हैं जिनमें कोई न्यायालय फीस नहीं लगती किंतु उनमें भी वादियों को अधिवक्ताओं की फीस और अन्य खर्चे देने पड़ते हैं जो काफी ज्यादा होते हैं।

यदि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन तथा सभी के प्रति समान न्याय हमारी उच्च संवैधानिक अग्रता है तो उसका कार्यान्वयन और प्राप्ति प्रत्यक्षतः इस बात पर निर्भर करेगी कि हमारी विधिक तंत्र तथा उपचार कितने त्वरित और कमखर्च हैं। यदि न्याय पाना उतना ही खर्चीला बना रहा जितना कि आज है तो न्याय का प्रशासन प्रभावी और वास्तविक नहीं हो सकता।

विधिक सहायता के रूप में कुछ राहत पहुंचाई गई है जो गरीबों को राहत पहुंचाने की दिशा में एक कदम है, लेकिन भारी खर्चों के समुद्र में यह एक बूंद के समान ही है।

7

न्यायपालिका की समस्याएं

हमें अपने न्यायालयों का वर्तमान तंत्र और उनकी प्रक्रिया अंग्रेजों से विरासत में मिली है और यह 150 से भी अधिक वर्षों तक आजमाई जा चुकी है। फिर भी, यह मानना होगा कि पुरानी चीज हमेशा ही सोने जैसी खरी नहीं होती। यह तंत्र जब लागू किया गया था तो पर्याप्त अनुकूल था। आज भी, एक बड़ी सीमा तक, यह सर्वोत्तम न्यायिक तंत्र है, लेकिन किसी भी अन्य तंत्र की तरह, यह पुराना और अक्षम हो गया है और समाज के बदलते स्वरूप की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पा रहा है। न्यायिक प्रक्रिया में नए प्राण फूंकने की आवश्यकता है और यह जितनी जल्दी किया जा सके, उतना अच्छा है। भारत के प्रथम अटार्नी जनरल स्वर्गीय श्री एम. सी. सीतलवाड़ ने बार एसोसिएशन ऑफ इंडिया को संबोधित करते हुए कहा था :

> इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजों का प्रशासन तंत्र बहुत अच्छा था और उसके परिणाम बहुत ही अच्छे रहे, लेकिन उसके अपने दोष थे जिनकी दो प्रकार से वृद्धि की गई है। हमारा देश अब लोकतंत्रात्मक है और इसकी आबादी बहुत अधिक है। अतः अब न्याय देने की पद्धति में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। हमें ऐसे न्यायालय चाहिए जहां लोग सहज रूप से जा सकें और उनका व्यय कम से कम हो। केवल यही जरूरी नहीं है कि न्याय अविलंब मिले बल्कि यह भी जरूरी है कि न्यायालय तक पहुंचना सरल हो और निर्णय शीघ्र हो। यह तभी संभव है जब वर्तमान तंत्र का कायापलट किया जाए।

यह बात 40 साल पहले कही गई थी। क्या हमने इस दिशा में कोई सुधार किया है? न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र ने एक आशावादी चित्र सामने रखा था। 1990 में विधि दिवस के अपने भाषण में उन्होंने कहा था :

> इन चालीस वर्षों में विधि ने कई क्षेत्रों में काफी प्रगति की है। 'सुने जाने के अधिकार' की बाधा 1981 में ही शिथिल कर दी गई थी। तब से, विशेषकर वरिष्ठ न्यायालयों में, वाद की प्रकृति में काफी परिवर्तन आया है। लोकहित वाद लोकप्रिय

हो गया है और इसने एक बड़ी हद तक समुदाय की सेवा की है। इसी कोटि के मामलों में न्यायालय ने सामाजिक हित संपरीक्षक के रूप में अपनी क्षमता प्रदर्शित की है। सामाजिक जीवन में न्यायिक प्रक्रिया का प्रभाव स्पष्ट एवं ज्ञेय है; सामान्यजन संभवतया यह देख पाया है कि न्यायतंत्र क्या लाभ पहुंचा सकता है।

प्रशंसकों और आलोचकों, दोनों का प्रायः यह कहना है कि कई कारणों से न्यायतंत्र में दरारें और श्रांति के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। अतः यह आवश्यक हो गया है कि स्थिति को सुधारने के लिए तत्परता और साथ ही, दक्षता के साथ, उपाय किए जाएं।

विधि के अनुसार न्याय की लगभग अपरिहार्य अकुशलता को समाप्त करना ही काफी नहीं होगा। लेकिन जब तक व्यक्तिवाद को, जिस पर वर्तमान आदर्श आधारित है, वांछनीय समझा जाता रहेगा, तब तक दूरगामी परिवर्तन करना निश्चित रूप से असंभव है। जब तक सामान्य हित के ऊपर व्यक्तिगत हित को वरीयता प्राप्त होती रहेगी तब तक सिविल और दांडिक, दोनों प्रकार के न्याय एक बड़ी सीमा तक दक्ष और अपर्याप्त बने रहेंगे। जो लोग न्यायिक अदक्षता की बात करते हैं, वे सामान्यतया इस संकल्पना के अत्यंत कृत्रिम अर्थ से अवगत नहीं हैं। विधि सिविल वादों में दक्ष होती है जब निर्णय और उसके कार्यान्वयन के आदेश शीघ्र हो जाते हैं। उसके पश्चात दक्षता उसका प्राथमिक ध्येय नहीं रह जाती। लोकोपकारवाद के फलस्वरूप, जो कि वर्तमान व्यक्तिवाद का आवश्यक उपसाध्य है, न्यायिक निर्णय को लागू करने के मार्ग में दुनिया भर की बाधाएं उठ खड़ी होती हैं। देनदार या तो प्रक्रियागत विलंबों का लाभ उठाकर अपनी संपत्ति किसी को हस्तांतरित कर देता है या डिक्री के निष्पादन से औपचारिक छूट प्राप्त करना चाहता है और इस प्रकार उसकी संपत्ति लेनदार की पहुंच से परे हो जाती है। देनदार के शरीर को तो आप हाथ लगा ही नहीं सकते। इस संबंध में पिछली शताब्दियों की विधि जो अस्थायी गिरफ्तारी और कर्ज की वसूली के लिए कारावास को अपेक्षाकृत अधिक मान्यता देती थी, निश्चित रूप से अधिक 'दक्ष' थी। लेकिन पुराने कानून को पुनर्जीवित करने का तो अब कोई प्रश्न ही नहीं है। देनदार की आर्थिक विपन्नता विधि की दक्षता को पराजित करने के लिए विद्यमान रहेगी ही और यह बेहिचक कहा जा सकता है कि विधि को न्याय की प्रत्येक हत्या के लिए अनन्य रूप से दोषी ठहराया जाता रहेगा। जहां तक आपराधिक विधि का प्रश्न है, स्थिति कुछ उलटी है। अपराधी के विरुद्ध एक बार निर्णय हो जाए तो फिर उसका निष्पादन कहीं अधिक निश्चित हो जाता है। किंतु निर्णय लेने की प्रक्रिया में व्यक्ति के प्रति सरोकार बराबर दृष्टिगोचर होता है। सुसंगत उपबंध न केवल प्रक्रियात्मक रक्षोपाय माने जाते हैं बल्कि महत्वपूर्ण संवैधानिक अधिकार भी हैं। वे सचमुच संवैधानिक अधिकार हैं जिन्हें शताब्दियों के रक्तपात के बाद प्राप्त किया गया है और किसी लोकतंत्र में उन्हें त्यागने की बात गंभीरतापूर्वक नहीं सोची जा सकती। एक लगभग उपचारहीन दुविधा यह है कि

इनका लाभ केवल उन साधारण नागरिकों को ही नहीं मिलता जो यदाकदा विधि के शिकंजे में फंस जाते हैं बल्कि उन पेशेवर अपराधियों को भी मिलता है जिन्होंने दीर्घ अनुभव से सभी प्रतिरक्षाओं का लाभ उठाने का गुर सीख लिया है।

मूलभूत सामाजिक संस्थाओं में आमूल परिवर्तन लाना कठिन होता है अतः न्यायिक प्रशासन के सुधार का सरोकार आमतौर पर न्यायिक तंत्र में समायोजन तक सीमित रहता है। अधिष्ठायी विधि में परिवर्तन की अपेक्षा प्रक्रियागत सुधार कहीं अधिक होते हैं। संभवतया यही कारण है कि सुधारों के अपेक्षित परिणाम नहीं निकल पाते। यह सही है कि अधिष्ठायी विधि और प्रक्रिया के बीच जो अंतर है वह काफी हद तक कृत्रिम है। प्रक्रिया में किए जाने वाले सभी सुधार तात्विक अधिकारों को प्रभावित करते हैं किंतु जहां तात्विक अधिकार संदिग्ध प्रकृति का हो वहां प्रक्रियागत सुधार निश्चित रूप से स्थिति में सुधार नहीं ला सकते। सामान्यतया, नए न्यायालयों का सृजन या वर्तमान न्यायालयों में अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति बड़ा समयोचित एवं इष्टकर सुधार मानते हुए प्रायः होता ही रहता है। राजनीतिज्ञों के बीच इसकी लोकप्रियता का कारण यह है कि भरने के लिए नए पद उपलब्ध होने से उनके प्रश्रय का दायरा बढ़ जाता है। प्रक्रिया के चरणों में परिवर्तन करने का एक विचित्र परिणाम यह होता है कि कुछ समय के लिए न्यायालयों में भीड़ में वृद्धि हो जाती है। परिवर्तनों का प्रभाव बहुत से मामलों के निर्णय के पश्चात ही सुस्पष्ट हो पाता है। प्रक्रियागत सुधार की एक आधारभूत पहेली किसी युक्ति विशेष की अपरिहार्यता है। विधिक तकनीक ऐसी होती है कि समान ध्येय की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न तरीके अपनाए जा सकते हैं अतः विधि के मूलभूत प्रयोजनों की पूर्ति के लिए कोई भी युक्तिसंगत प्रक्रिया प्रभावी हो सकती है यदि उसे प्रभावी बनाने की संकल्प शक्ति हो।

दूसरी ओर, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि लोग अपने नागरिक दायित्वों का निर्वाह और अपराधों से परिवर्जन केवल विधिक अनुशास्तियों के भय से ही नहीं करते बल्कि नैतिक और व्यावहारिक कारणों से भी करते हैं। आधुनिक प्रवृत्ति किसी तरह के सामाजिक नियंत्रणों को न मानने की है। अंत में, यह भी मानना होगा कि, कम-से-कम सिविल मामलों में, न्याय-प्रशासन के दोषों का भी वादकारी को हतोत्साहित करने और लोगों को सुलह की संभावनाओं का यथाशक्य लाभ उठाने के लिए प्रेरित करने का कुछ सामाजिक महत्व है। अर्जनशील समाज में, यह शायद उचित ही है कि मुकदमेबाजी के रास्तों में यहां-वहां कांटे बिखेर दिए जाएं।

न्यायालयों में लंबित मामले

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि न्याय-प्रशासन के प्रति जन असंतोष गत शताब्दियों की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में कम नहीं रहा है। विशेष त्वरित गति के इस काल में, विद्यमान

असंतोष को संस्थानिक संक्रमणों का परिणाम बताना सरल है। किंतु यदि यह चीज निरंतर चली आ रही है तो इसे पूरी तरह बदलती परिस्थितियों का परिणाम नहीं कहा जा सकता। केवल समाजशास्त्रीय भेदकों के आधार पर समाधान देना उसी स्थिति में पर्याप्त माना जा सकता है जबकि अपेक्षाकृत अधिक मूलभूत कारक उपस्थित न हों। उदाहरण के लिए, शपथ भंग के प्रचलन को, जिसने आधुनिक न्यायालयों में न्याय के प्रशासन को प्रायः क्षति पहुंचाई है, पूरी तरह से धार्मिक विचारों के ह्रास का परिणाम बताने का मन करता है। लेकिन शपथ भंग का अपराध थोड़ा-बहुत हमेशा से किया जाता रहा है। इस लोक के दंड का भय परलोक की यंत्रणाओं से कम नहीं होना चाहिए। धार्मिक संस्थाओं के अपकर्ष के होते हुए भी प्राधिकार ने किसी-न-किसी तरह अपनी सत्ता को बनाए रखा है। एक और सामान्य उदाहरण लें : संचार साधनों में अत्यधिक सुधार ने निस्संदेह अपराधी को भागने का प्रयास करने के सरल और सुसाध्य उपाय उपलब्ध किए हैं लेकिन लोक प्राधिकारियों द्वारा उसका पीछा करने में होने वाली सरलता अपराधी के लाभ की काट कर देती है। इसके अलावा, आधुनिक नगर का हानिकर प्रभाव भी है। इसी के फलस्वरूप न्यायालयों में इतनी भीड़-भाड़ होती है जो न्याय के आधुनिक कुप्रशासन की जड़ है। किंतु महानगरीय न्याय के दोषों का कारण नगरों का बृहदाकार ही नहीं है। सचाई तो यह है कि विधिक प्रणालियों के इतिहास में प्रक्रियागत सुधारों का प्रारंभ शहरों से ही हुआ है। अगर शहरों में मुकदमा लड़ने वालों की संख्या अधिक है तो उनके पास अतिरिक्त न्यायाधीशों और अच्छे वकीलों को जुटाने के लिए आवश्यक धन भी है। —

एक आम राय यह है कि हमारा न्यायिक तंत्र ऊपर से नीचे तक अनेक व्याधियों से ग्रस्त है। न्यायिक तंत्र के बारे में बात करने वाला प्रत्येक व्यक्ति खेद-प्रकाशन और गिरते मानदंडों की स्वीकृति के साथ अपनी बात प्रारंभ करता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति वी.डी. तुलज़ापुरकर ने कहा है :

> यदि स्वतंत्र न्यायपालिका को गणतंत्र का हृदय माना जाता है तो कहना होगा कि भारतीय गणतंत्र इस समय गंभीर हृदय रोग से ग्रस्त है। सच पूछा जाए तो देश की वरिष्ठ न्यायपालिका इधर बाह्य और आंतरिक, दोनों प्रकार के आक्रमणों का निरंतर शिकार होती रही है जिसके फलस्वरूप हमारे राष्ट्र के स्वास्थ्य, कल्याण और प्रगति की हानि होना अवश्यंभावी है। बात यह है कि व्याधिग्रस्त हृदय अपनी जनता के उत्तम स्वास्थ्य के लिए अपेक्षित स्वस्थ रक्त की आपूर्ति को सुनिश्चित नहीं कर सकता।

भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी.एन. भगवती ने अपने 1985 के विधि दिवस के भाषण में कहा था :

> मुझे यह कहते हुए पीड़ा हो रही है कि देश का न्यायतंत्र धराशायी होने की स्थिति के बहुत निकट पहुंच चुका है..... हमारा न्यायतंत्र लंबित मामलों के भार तले दबा

जा रहा है। यह एक घिसी-पिटी कहावत है कि न्याय में विलंब करना न्याय से वंचित करना है। हम मुकदमों के निपटारे में होने वाले विलंब पर अपना रोष प्रकट करने के लिए प्रायः इस घिसे-पिटे वाक्यांश को उद्धृत करते हैं लेकिन हमारा रोष केवल बौद्धिक और सतही होता है। जो लोग हमारे न्यायालयों में न्याय की खोज में आते हैं, उन्हें न्याय पाने के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उन्हें एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय की भूलभुलैया से गुजरना पड़ता है और अंत में वे थक जाते हैं तथा घोर निराशा के कारण हिम्मत हार बैठते हैं... हमारे न्यायालयों में होने वाले विलंब से अगर किसी को फायदा होता है तो वे हैं बेईमान लोग जो बरसों तक बिना कोई दंड पाए अपने विधिक दायित्वों के पालन से बचते जाते हैं और प्रत्येक वह धनी व्यक्ति जो सरकार या लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध आदेश, रोक आदेश या व्यादेश प्राप्त कर लेता है, वह बरसों तक, प्रायः लोकहित की कीमत पर, ऐसे रोक आदेश अथवा व्यादेश का लाभ उठाता रहता है।

उच्चतम न्यायालय के विषय में, मुख्य न्यायाधीश महोदय का कथन था :

नए मुकदमों की भारी आमद और अनिर्णीत पड़े मामलों की विशाल संख्या के फलस्वरूप आज उच्चतम न्यायालय धराशायी होने की स्थिति के निकट पहुंच गया है। मैं, व्यक्तिगत रूप से, यह नहीं मानता कि न्यायाधीशों की संख्या में बड़ी वृद्धि करना वांछनीय है। यदि न्यायाधीशों की संख्या में अपेक्षित से अधिक वृद्धि की गई तो उच्चतम न्यायालय खंडित पीठों की संरचना से युक्त एक महिमामंडित उच्च न्यायालय बन कर रह जाएगा। तब उच्चतम न्यायालय शिखर न्यायालय के रूप में अपनी पहचान खो देगा और उसमें कोई संसक्ति या एकरूपता नहीं रह जाएगी। साथ ही, मैं अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय को प्राप्त असाधारण अधिकारिता में किसी भी प्रकार की कमी करने के पक्ष में नहीं हूं।

आगे मुख्य न्यायाधीश महोदय ने उच्च न्यायालयों के विषय में कहा, "इसी प्रकार उच्च न्यायालयों की स्थिति भी काफी भयावह है।"

विधि में विलंब

विधि में विलंब पुरातन और सार्वभौम है। यह सिविल वादों की लगभग स्मरणातीत स्थिति की अभिव्यंजना करती है। सिविल वादों की कार्यसूची सदैव बहुत लंबी होती है। और गुणावगुण के आधार पर विचारण के आरंभ होने में वर्षों लग सकते हैं। सिविल कार्रवाई प्रारंभ करने का खर्च और उसमें लगने वाले कानूनी खर्चे बहुत अधिक होते हैं और छोटे दावों के बारे में कार्रवाई करने का कोई फायदा नहीं होता। विधिक प्रक्रिया बड़ी विशद है और विधि की बारीकियां हर चरण पर मुवक्किल के लिए बाधक बनती हैं। पहले निर्णय

के बाद भी कई कई अपीलें की जा सकती हैं जिनके कारण और विलंब होता है। अंतिम निर्णय हो जाने के बाद, उसका निष्पादन शायद ही कभी संतोषजनक ढंग से हो पाता है। ऐसी परिस्थितियों में, ईमानदार वादी अपने विधिक अधिकारों के लिए दावा करने में अवरोध पाता है जबकि यह विरोधाभास जैसा ही है कि बेईमान मुकदमेबाज अपने निराधार अथवा बढ़े-चढ़े दावे पर जोर देने के लिए उत्साहित रहता है। लंबे समय तक चलने वाले मुकदमे में उलझने का खर्च ही विवादी पक्षकारों को कुछ कम रकम पर समझौता कर लेने को या राहत और न्याय पाने की बात मस्तिष्क में न लाने के लिए प्रेरित करने को काफी है।

विलंब और बारीकियां केवल सिविल कार्रवाइयों में ही निहित नहीं हैं। दांडिक न्याय के प्रशासन की स्थिति कोई बेहतर नहीं है। लोकतंत्र की स्थापना से पहले के काल में दांडिक न्याय के मनमानेपन के कारण उस पर अत्यधिक कठोर होने के आरोप लगते थे जबकि आज कुकर्मियों के प्रति अत्यधिक नरमी के खिलाफ आवाज उठाई जा रही है। बहुत से अपराधी तो कभी पकड़े ही नहीं जाते। जो पकड़ में आ जाते हैं, वे प्रायः कानून की कमियों का फायदा उठाकर बच निकलते हैं। दांडिक मामलों की सुनवाई की प्रकृति ही ऐसी है कि वह हमेशा प्रतिरक्षा पक्ष को लाभ पहुंचाती है। वैवाहिक मामलों और अपमान-लेख के मामलों को छोड़कर, सिविल मामलों का विचारण आमतौर पर इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त रहता है। दूसरी ओर, भ्रष्टाचार, पक्षपात और शपथभंग दांडिक मामलों में खूब चलते हैं। हर दौर का अपना कोई प्रख्यात प्रकरण होता है। यह अनुश्रुति है कि धनवान और शक्तिशाली अपराधी बच निकलते हैं जबकि निर्धन और मित्रहीन लोग जेल भेज दिए जाते हैं। निर्दोष लोगों को कभी कभी पुलिस झूठे आरोपों में फंसा लेती है, और इसमें कोई खुश होने की बात नहीं कि उसी तकनीक का प्रयोग करके पेशेवर अपराधियों को झूठे आरोपों के आधार पर सींखचों में बंद करा दिया जाता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना ने कहा था :

> एक अन्य बात जो न्यायतंत्र में लोगों के विश्वास को डिगा रही है, वह है दोषमुक्ति के मामलों की भारी संख्या और बड़े अपराधियों को दंडित करने की न्यायतंत्र की बढ़ती असफलता। यह सही है कि न्यायाधीशों को अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही अपने निर्णय देने होते हैं और कोई व्यक्ति यह आशा नहीं कर सकता और न करनी चाहिए कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध लगाए गए आरोप को सिद्ध करने के लिए विश्वसनीय साक्ष्य न हो तो भी न्यायालय उसे दोषी ठहराएगा। दोषमुक्ति के मामलों के इतने उच्च प्रतिशत का एक मुख्य कारण पुलिस अन्वेषण की गुणवत्ता में गिरावट और उसके परिणामस्वरूप ऐसी विश्वसनीय साक्ष्य एकत्र करके पेश करने में उसकी असफलता है जिसके आधार पर अभियुक्त को दोषी ठहराया जा सके।

पुलिस अन्वेषण की गुणवत्ता में यह गिरावट राजनीतिज्ञों द्वारा मामलों के अन्वेषण में किया गया हस्तक्षेप है। यह सर्वविदित है कि जो व्यक्ति जितना बड़ा गुंडा या असामाजिक व्यक्ति होता है, चुनावों के समय उसका मूल्य और उपयोग उतना ही अधिक होता है। निर्वाचन के समय जब राजनीतिज्ञ इन असामाजिक तत्वों की सहायता मांगते हैं तो वे इसी आशा में उनकी सहायता करते हैं कि यदि उन्हें विधि प्रवर्तन करने वाले किन्हीं अभिकरणों के हाथों परेशानी होगी तो राजनीतिज्ञ उनकी मदद करेंगे और उन्हें कठिनाई में पड़ने से बचा लेंगे। असामाजिक तत्वों को कठिनाई के समय दी गई सहायता उनके द्वारा चुनावों के दौरान की गई राजनीतिज्ञों की मदद का सीधा प्रतिकर है। यह सब स्वभावतया अपराधों के पुलिस द्वारा अन्वेषण को अत्यंत कठिन बना देता है। इसके अलावा, हम जानते हैं कि पुलिस का बहुत-सा समय अति विशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा और अन्य प्रबंधों पर खर्च होता है। प्रदर्शन, बंद, हड़ताल और आंदोलन हमारे लोक जीवन के अधिकाधिक अंग बनते जा रहे हैं जिन पर पुलिस बल का काफी समय खर्च होता है। अपराधों के अन्वेषण की पुलिस के कामकाज में निम्नतर अग्रता है। परिणामतया अन्वेषण की गुणवत्ता में गिरावट आती है और पुलिस बल विचारण के समय विश्वसनीय साक्ष्य प्रस्तुत करने में अधिकाधिक असमर्थ होता जा रहा है। जो भी हो, दोषमुक्ति के मामलों की इतनी बड़ी संख्या का कारण कुछ भी हो, उसका अपरिहार्य प्रभाव यही होगा कि लोगों का विश्वास इस बात में कम होता जाएगा कि न्यायालय बड़े अपराधियों को दंड देने में समर्थ है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अगर लोगों का विश्वास न्यायतंत्र से उठ गया और उनके मन में यह बात बैठ गई कि न्यायपालिका अपराधियों को दंड देने में असमर्थ है तो अपराधों के शिकार व्यक्ति और उनके सगे-संबंधी अपराधियों के साथ, जिन्हें वे प्रायः पहचानते हैं, निपटने के लिए गैरकानूनी तरीकों का इस्तेमाल करेंगे। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति अव्यवस्था और अराजकता को जन्म देगी।

विधि और उसकी प्रक्रिया की बारीकियां

न्यायिक प्रशासन के अनेक दोषों को समझाने के लिए अलग अलग प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने के स्थान पर एक सार्वभौम दृष्टिकोण अपनाना अधिक उपयुक्त है। वादकारी मानव प्रकृति का एक प्रबल लक्षण है। सारी दुनिया में न्यायालयी प्रदर्शन जनसाधारण की प्रशंसा का पात्र होता है। यह विचित्र बात है कि एक ओर तो लोग कानूनी बारीकियों को हेय मानते हैं पर दूसरी ओर उसकी विदग्धता पर वाह-वाह भी करते हैं। निराश मुकदमेबाज हमेशा चुप नहीं हो जाते। हारने पर वे 'विधि' के स्थान पर 'न्याय' की दुहाई

देने लगते हैं। एक वर्ग के रूप में वकीलों को अपनी कला की सूक्ष्मताओं को बनाए रखने में बड़ा लाभ है। और विधिक प्रक्रिया को सरल कर दिया जाए तो वकीलों की सेवाओं की अधिकांशतया आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अनेक कारणों से विधिक संस्थाएं अन्य संस्थाओं की तुलना में लोकमत में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप अपने को ढालने में अधिक देर लगाती हैं। सिविल और दांडिक न्यायालयों में प्रक्रियाएं बहुत तकनीकी, दुर्वह, खर्चीली और मंद हो गई हैं। एक के बाद एक, अपीलों के अनेक-स्तर हैं। जब इन्हें लागू किया गया था तो उस समय के सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में ये सर्वोत्तम थीं पर अब ये साधारण वादकारी की पीठ पर वर्षा में भीगे कंबल के समान हो गई हैं। न्यायाधीशों, वकीलों और प्रतिवादियों का इस प्रक्रिया में अब निहित स्वार्थ हो गया है।

1986 के विधि दिवस के अपने भाषण में मुख्य न्यायाधीश श्री पी.एन. भगवती ने कहा था :

> दुर्भाग्य से, हमारे देश में आज भी कुछ वकील और विधिवेत्ता ऐसे हैं जो शुतुरमुर्ग की तरह बालू में अपने सिर धंसाए रहना चाहते हैं और लोकहित वाद के परिणामस्वरूप न्यायिक प्रक्रिया में जो परिवर्तन आ रहा है उसे पहचानने से इंकार कर रहे हैं। प्रतिपक्षी न्याय की अंग्रेजी परंपरा में प्रशिक्षित और उस काल में जन्मे और बढ़े, जब अबंध सिद्धांत का बोलबाला था, ये बुद्धि से अश्मीभूत और सठियाए लोग प्राचीन गलियारों में सरसराती हुई बदलाव की नई हवा के साथ अपना मेल नहीं बिठा पा रहे हैं। वे बौद्धिक रूप से अब भी 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध या शायद 19वीं शताब्दी में ही रह रहे हैं और उस सोच से बाहर निकल कर अपना विकास नहीं कर पा रहे हैं। वे बंधी लकीर पर चलने के इतने अभ्यस्त हैं कि उससे कोई विचलन अथवा परिवर्तन उन्हें सहन नहीं होता। उनकी दृष्टि में न्याय की प्रक्रिया केवल एक बौद्धिक व्यायाम है जिसमें न्यायाधीश और वकील अपनी विद्या और विद्वता का प्रदर्शन कर सकते हैं; उनकी दुनिया में सर्वहारा और असहायों, निचले वर्ग के और गुमनाम लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे चाहते हैं कि न्यायपालिका उसी जर्जर और पुरावशिष्ट आंग्ल-सेक्सन न्यायशास्त्र की प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हुए न्याय प्रदान करती रहे, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस न्यायशास्त्र का समर्थन करते हुए न्याय प्रदान करने वाले लोग देवताओं के समान हैं। किंतु न्याय के ये तथाकथित पक्षधर यह नहीं समझते कि देश में लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें न्याय चाहिए और अगर उन्हें यह शीघ्र न मिला तो वे एक दिन राजमार्गों पर धावा बोल देंगे और उन्हें नष्ट कर देंगे जिनका दावा है कि उन पर चलने का अधिकार केवल हमारा ही है। सौभाग्य से, लोकहित वाद के फलस्वरूप, जनता के कमजोर वर्ग, समुदाय के अलाभग्रस्त तबके अब पहली बार अन्याय से संरक्षण प्रदान करने वाली संस्था के रूप में न्यायालयों पर आंख गड़ाए

हैं। अब तक वे न्यायालयों के द्वार तक भी नहीं पहुंच पाते थे। किंतु अब लोकहित वाद के माध्यम से उनकी समस्याएं न्यायालय के समक्ष लाई जा सकती हैं। उन मुट्ठी भर लोगों की निराधार आलोचना के होते हुए भी जो समाज से कट कर विशाल भवनों के वासी हैं और जिन्हें समाज के उस पददलित वर्ग के दुःख, पीड़ा और शोषण की कोई चिंता नहीं है जो इस देश की जनसंख्या के 50 प्रतिशत से भी अधिक हैं। हमारी न्यायिक प्रक्रिया में एक क्रांति-सी आ रही है।

अधीनस्थ न्यायपालिका की दशा

न्यायिक संरचना की रीढ़, अधीनस्थ न्यायपालिका, की दशा शोचनीय है। मुख्य न्यायाधीश श्री पी.एन. भगवती का इस संबंध में कथन था :

> जिला न्यायाधीशों, सिविल न्यायाधीशों और मुंसिफों के अधीनस्थ न्यायालयों में बहुत बड़ी संख्या में मुकदमे विचारार्थ पड़े हैं। जब तक हम संरचनात्मक परिवर्तन नहीं करते तब तक अधीनस्थ न्यायालयों में मुकदमों की भारी आमद से निपटना संभव नहीं है। हां, यदि हम अधीनस्थ न्यायाधीशों के वेतन और सेवा शर्तों में सुधार कर सकें और उनकी कार्य-दशाओं को बेहतर बना सकें तो वर्तमान संरचना के अंतर्गत ही काफी कुछ किया जा सकता है। हम अधीनस्थ न्यायपालिका में अच्छी प्रतिभाओं को आकर्षित नहीं कर पाते क्योंकि अधीनस्थ न्यायाधीशों का पारिश्रमिक बहुत कम है और उनकी सेवा-शर्तें असंतोषजनक हैं। अनेक राज्यों में अधीनस्थ न्यापालिका में न्यायाधीशों की संख्या अपर्याप्त है और न्यायालय भी अपेक्षित संख्या में नहीं हैं। कई राज्यों में अधीनस्थ न्यायाधीशों को आवास की सुविधा उपलब्ध नहीं है और उन्हें आवास ढूंढ़ने के लिए वकीलों और कभी कभी तो, मुवक्किलों पर भी निर्भर करना पड़ता है। फिर भी आवास इतने भारी किरायों पर मिल पाते हैं जो उनकी आर्थिक सामर्थ्य के परे होते हैं। अनेक स्थानों पर तो न्यायालयों के लिए उपयुक्त भवन भी नहीं हैं। इसके अलावा, हम अपने अधीनस्थ न्यायाधीशों को कोई नियुक्ति-पूर्व प्रशिक्षण नहीं देते और न उन्हें कोई सेवाकालीन प्रशिक्षण देते हैं। हम यह मान कर चलते हैं कि अधीनस्थ न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होते ही उनमें किसी दैवी प्रज्ञा का उदय हो जाता है और उनमें न्याय प्रदान करने का कौशल एवं क्षमता विकसित हो जाती है। इन सभी बातों के पीछे कारण यह है कि अनेक राज्यों में, न्याय प्रशासन को बड़ी निम्न प्राथमिकता दी गई है। जब निचले स्तर पर न्यायिक प्रणाली को सुधारने के लिए धन की आवश्यकता होती है तो उसे उपलब्ध कराने में आनाकानी की जाती है। संभवतया हम यह नहीं समझ पाते कि अधीनस्थ न्यायालय ही न्याय के पिरामिड का आधार है और जब तक आधार सुदृढ़ नहीं बनाया जाएगा

तब तक पिरामिड का ढह जाना अवश्यंभावी है। हम प्रायः भूल जाते हैं कि न्याय तंत्र के साथ आम आदमी का संपर्क अधीनस्थ न्यायालयों के स्तर पर ही होता है; उसे उच्च न्यायालय जाने की जरूरत शायद ही कभी पड़ती है। अतः यदि हम सामान्यजन के अंदर यह विश्वास उत्पन्न करना चाहते हैं कि उसे न्याय मिल सकता है तो उसके लिए यह परम आवश्यक है कि हम अधीनस्थ न्यायपालिका को मजबूत करें। बहुत से लोग यह नहीं समझ पाते कि यदि अधीनस्थ न्यायपालिका सुदृढ़ होगी तो उच्च न्यायालयों के समक्ष जाने वाली अपीलों की संख्या कम हो जाएगी और उच्च न्यायालयों के कार्यभार में पर्याप्त कमी आ जाएगी।

न्यायाधीशों की निष्पक्षता और उनकी ईमानदारी

न्यायिक प्रशासन की उच्च कोटि की ईमानदारी पर सदा बल दिया जाता रहा है। न्याय का उदात्त होना भी आवश्यक है। न्याय प्रदान करना केवल राज्य का एक कार्य ही नहीं माना जाता अपितु कोई रहस्यपूर्ण कृत्य जैसा माना जाता है। यह बात अनेक सुपरिचित प्रथाओं एवं भावनाओं से प्रकट होती है। यह सर्वत्र आवश्यक समझा जाता है कि कम-से-कम उच्च न्यायालय वास्तु की दृष्टि से भव्य हो। विचारण, विशेष रूप से आपराधिक विचारण, जितना एक धार्मिक आयोजन है उतना ही एक संस्कार भी है। न्यायालय की कार्रवाइयां, न्याय-प्रशासन की गरिमा के साथ, इस प्रकार संचालित की जाती हैं कि वे उनमें भाग लेने वाले और दर्शकों, दोनों को प्रभावित करें। आज भी न केवल सामान्यजन अपितु प्रबुद्ध व्यक्ति तक इस रस्म के प्रति एक भय की ही भावना रखते हैं।

न्यायिक प्रशासन के प्रति इन विचित्र दृष्टिकोणों के कारण हमें राज्य के इतिहास के आरंभिक काल में ले जाते हैं जिसने मनुष्य और मनुष्य के बीच न्याय प्रदान करने के आधारभूत महत्व को स्थापित किया था। अपनी सहायता आप करने वाले युग की अराजकता की स्मृति आज भी ताजा है। न्याय प्रशासन के आरंभिक धर्मरूढ़ संबंध आज भी भूले नहीं हैं। जब राजा ने लड़ाकू और दुर्दम्य सरदारों के ऊपर अपनी शक्ति जमाई तो न्याय की स्थापना साम्राज्यों की नींव के रूप में की गई। तब सामान्यजन को सबल के आक्रमणों से कुछ राहत मिली। आभारस्वरूप उसने न्याय को पवित्रता के विशिष्ट गुणों से मंडित कर दिया। अनेक शताब्दियों तक, राज्य लगभग पूरी तरह एक पुलिस राज्य के रूप में रहा और न्याय प्रशासन ही उसका एकमात्र ऐसा कार्य था जो वह जनहित में करता था। विधिक न्याय-सामाजिक न्याय का पर्याय था और यह स्वाभाविक ही था कि उसे बड़ी ऊंची दृष्टि से देखा जाता। आज राज्य अनेक प्रशासनिक सेवाएं प्रदान करता है और राज्य के साथ सामान्यजन का संपर्क उसके न्यायिक अभिकरणों की अपेक्षा प्रशासनिक अभिकरणों के माध्यम से कहीं ज्यादा है। हो सकता है कि आज का आदमी राज्य के न्यायिक तंत्र के संपर्क में आए बिना अपना जीवनकाल पूरा न कर सके किंतु न्यायालयों के हाथों न्याय

न मिल पाना अथवा न्याय पाने के लिए रिश्वत देने के लिए विवश होना आज भी किसी व्यावसायिक लाइसेंस के लिए रिश्वत देने से कहीं ज्यादा विपत्तिकर माना जाता है।

न्याय की निश्चिंतता पर जितना कुठाराघात निष्पक्षता की कमी कर सकती है, उतना कोई और बात नहीं कर सकती। अतः न्याय-प्रशासन की ईमानदारी को एक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसके अलावा, प्रशासन की अन्य शाखाओं की तुलना में न्यायतंत्र की ईमानदारी का स्तर बहुत ऊंचा होना चाहिए, इस पर बराबर बल दिया जाता है। न्यायिक प्रशासन के चारों ओर विशेष रक्षोपाय खड़े किए गए हैं। आधुनिक राज्य ने इस स्थिति की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयास किया है कि विधिक न्याय उसके आर्थिक न्याय की तुलना में बहुत ऊंचे स्तर का हो। वह इसमें बड़ी हद तक सफल भी हुआ है। न्यायिक घोटाला विशेष निंदनीय समझा जाता है। न्यायालयों में अनियमितता या अनौचित्य का जरा-सा भी आभास विशेष चिंता का विषय और आतंकित करने वाली बात मानी जाती है। कोई विधायक अथवा प्रशासक भ्रष्टाचार का दोषी पाया जाए तो उससे राज्य की नींव के लिए प्रकटतः कोई खतरा पैदा नहीं होता लेकिन न्यायाधीश को सदा अपने आपको संदेह से पूरी तरह ऊपर रखना आवश्यक होता है। "न्यायाधीशों तथा न्याय के प्रशासन की स्वतंत्रता, निष्पक्षता और ईमानदारी की बात करना एक जड़पूजा जैसा हो गया है।" न्यायालयों/न्यायाधीशों को अब यह समझ लेना चाहिए कि यदि वे न्यायसंगत, निष्पक्ष और ईमानदार न रहे तो न्यायपालिका की पवित्रता, उच्च आसन और उसकी अवमानना की शक्ति उन्हें बचाएगी नहीं। आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि न्यायाधीशों की आलोचना करने का अधिकार निष्पादन के अत्युच्च स्तरों को सुनिश्चित करने का एक रक्षोपाय है। एक मामले में हमारे उच्चतम न्यायालय ने कहा है :

> बुद्धिमान न्यायाधीश यह कभी नहीं भूलते कि अपने पद की गरिमा और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने का सर्वोत्तम उपाय अपने निर्णयों की गुणवत्ता, अपने दृष्टिकोण के बल, न्यायसंगति तथा वस्तुनिष्ठता और अपने न्यायिक आचरण में अपनाए गए संयम, गरिमा और शालीनता से सर्वसाधारण का आदर अर्जित करना है।

इंडिया टुडे ने स्थिति का उपसंहार इन शब्दों में किया था :

> न्यायाधीशों का वर्ग आज घिराव की स्थिति में है। उनका एकमात्र गुण जो उनका कवच और अस्त्र रहा है, आज उनसे छीना जा रहा है—यह गुण है उनकी विश्वसनीयता। यह केवल कुछ सौ व्यक्तियों की त्रासदी नहीं है कि उनकी योग्यता और आशय पर उंगली उठाई जा रही है। ये वे लोग हैं जो हमारे स्वातंत्र्य और संपत्ति के अभिभावक हैं, और हमारे संविधान के व्याख्याकार तथा प्रहरी हैं, अतः इनकी विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगना एक राष्ट्रीय महासंकट है जो हममें से हरेक को प्रभावित करता है और हमें जड़ बना देता है।

संदर्भ सूची

आनंद, सी.एल. : गवर्नमेंट आफ इंडिया, 1935 एक्ट 1939, लाहौर

आनंद, सी.एल. : एन इंट्रोडक्शन टु द हिस्ट्री आफ गवर्नमेंट आफ इंडिया (ब्रिटिश पीरियड-भाग-2) 1923, लाहौर

इब्न हसन : द सेंट्रल स्ट्रक्चर आफ द मुगल एंपायर, 1980 (1936)

कोवेल, हर्बर्ट : हिस्ट्री आफ कंस्टीट्यूशन, द कोर्ट्स एंड लेजिसलेटिव अथारिटीज इन इंडिया (टैगोर ला लेक्चर्स)

खन्ना, एच.आर. : इंडियन जुडीशियल सिस्टम–19 दिसंबर 1987 को लखनऊ में दिया गया भाषण (AIR 1988 पत्रिका खंड)

घोषाल, यू.एन. : ए हिस्ट्री आफ इंडियन पब्लिक लाइफ (खंड-2) 1966

जंग, ए.एम.यू. : द एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस आफ मुस्लिम ला (1926-1977)

जॉयस, रामा एम. : लीगल एंड कंस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया, 1990 (खंड 1 और 2)

जूलियस, जाली : नारदीय धर्मशास्त्र, 1981 संस्करण

जैकसन, आर.एम. : द मशीनरी आफ जस्टिस इन इंग्लैंड (द्वितीय संस्करण 1953) कैंब्रिज

जैन, बी.एस. : एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस इन सेवेंटींथ सेंचुरी इंडिया, 1970

धनकर, सी.डी. : लार्ड मैकालेज लेजिसलेटिव मिनिट्स (1946)

नाथ, बीरेन्द्र : जुडीशियन एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐन्शेंट इंडिया, 1979

भगवती, पी.एन. : विधि दिवस पर माननीय मुख्य न्यायाधीश के भाषण, 26 नवंबर 1985 तथा 1986

भट्टाचार्जी : एडमिनिस्ट्रेशन आफ ला एंड जस्टिस इन इंडिया, 1982

मिश्र, रंगनाथ : विधि दिवस पर माननीय मुख्य न्यायाधीश का भाषण, 24 नवंबर 1990

मोरले : द एडमिनिस्ट्रिशन आफ ब्रिटिश जस्टिस इन इंडिया (1858/1976) दिल्ली

राहुल, पाठक : क्रंबलिंग सिटाडेल–इंडिया टुडे (द जुडीशियरी), 30 जून 1992

सांघी, जी.एल. : ट्रायल एंड कोर्ट प्रोसीजर्स इन इंडिया–ट्रायल एंड कोर्ट प्रोसीजर्स वर्ल्डवाइड, ग्राहम एंड टार्टमैन, 1991

सिन्हा, प्रभावती : स्मृति पालिटिकल एंड लीगल सिस्टम, 1982

सेनगुप्ता, एन.सी. : ए हिस्ट्री आफ इंडियन पब्लिक लाइफ (खंड-2) 1966

स्मिथ, एच. : एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस—एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज (खंड 8 मैकमिलन) 1951

अनुक्रमणिका

तरंग प्रिंटर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली द्वारा मुद्रित